आचार्य चतुरसेन

देवांगना

आस्था और प्रेम का धार्मिक कट्टरता और घृणा
पर विजय का एक रोचक उपन्यास

आचार्य चतुरसेन शास्त्री का जन्म 26 अगस्त 1891 में उत्तर प्रदेश के बुलंदशहर के पास चंदोख नामक गाँव में हुआ था। सिकंदराबाद में स्कूल की पढ़ाई खत्म करने के बाद उन्होंने संस्कृत कालेज, जयपुर में दाखिला लिया और वहीं उन्होंने 1915 में आयुर्वेद में 'आयुर्वेदाचार्य और संस्कृत में 'शास्त्री' की उपाधि प्राप्त की। आयुर्वेदाचार्य की एक अन्य उपाधि उन्होंने आयुर्वेद विद्यापीठ से भी प्राप्त की। फिर 1917 में लाहौर में डी.ए.वी. कॉलेज में आयुर्वेद के वरिष्ठ प्रोफेसर बने। उसके बाद वे दिल्ली में बस गए और आयुर्वेद चिकित्सा की अपनी डिस्पेंसरी खोली। 1918 में उनकी पहली पुस्तक हृदय की परख प्रकाशित हुई और उसके बाद पुस्तकें लिखने का सिलसिला बराबर चलता रहा। अपने जीवन में उन्होंने अनेक ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यास, कहानियों की रचना करने के साथ आयुर्वेद पर आधारित स्वास्थ्य और यौन संबंधी कई पुस्तकें लिखीं। 2 फरवरी, 1960 में 68 वर्ष की उम्र में बहुविध प्रतिभा के धनी लेखक का देहांत हो गया, लेकिन उनकी रचनाएँ आज भी पाठकों में बहुत लोकप्रिय हैं।

देवांगना

आचार्य चतुरसेन

आमुख

आज से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों को ब्रह्मचर्य और सदाचार की शिक्षा देकर—बहुत जनों के हित के लिए, बहुत जनों के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिए, देव-मनुष्यों के प्रयोजन-हित सुख के लिए संसार में विचरण करने का आदेश दिया। वह 44 वर्षों तक, बरसात के तीन मासों को छोड़कर विचरण करते और लोगों को धर्मोपदेश देते रहे। उनका यह विचरण प्राय: सारे उत्तर प्रदेश और सारे बिहार तक ही सीमित था। इससे बाहर वे नहीं गए। परन्तु उनके जीवनकाल में ही उनके शिष्य भारत के अनेक भागों में पहुँच गये थे।

ई. पू. 253 में अशोक ने अपने धर्मगुरु आचार्य मोग्गलिपुत्र तिष्य के नेतृत्व में भारत से बाहर बौद्ध धर्मदूतों को भेजा। भारत के बाहर बौद्धधर्म का प्रचार भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इस समय प्राय: सारा भारत, काबुल के उस ओर हिन्दुकुश पर्वतमाला तक, अशोक के शासन में था।

बुद्ध के जीवनकाल में पेशावर और सिन्धु नदी तक, पारसीक शासानुशास दारयोश का राज्य था। तक्षशिला भी उसी के अधीन था। उन दिनों व्यापारियों के सार्थ पूर्वी और पश्चिमी समुद्र तट तक ही नहीं, तक्षशिला तक जाते-आते रहते थे। उनके द्वारा दारयोश के पश्चिमी पड़ोसी यवनों का नाम बुद्ध के कानों तक पहुँच चुका था। परन्तु उस काल का मानव संसार बहुत छोटा था। चन्द्रगुप्त के काल में सिकन्दर ने पंजाब तक पहुँचकर मानव संसार की सीमा बढ़ाई। अशोक काल में भारत का ग्रीस के राज्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ, जो केवल राजनैतिक और व्यापारिक ही न था, सांस्कृतिक भी था। इसी से अशोक को व्यवस्थित रूप में धर्म-विजय में सफलता मिली और बौद्धधर्म विश्वधर्म का रूप धारण कर गया। इतना ही नहीं; जब बौद्धधर्म का सम्पर्क सभ्य-सुसंस्कृत ग्रीकों से हुआ जहाँ अफलातून और अरस्तू जैसे दार्शनिक हो चुके थे तो बौद्धधर्म महायान का रूप धारण कर अति शक्तिशाली बन गया। महायान ने बौद्धधर्म जीवन का एक ऐसा उच्च आदर्श सामने रखा जिसमें प्राणिमात्र की सेवा के लिए कुछ भी अदेय नहीं माना गया तथा इस आदर्श ने शताब्दियों तक अफगानिस्तान से जापान और साइबेरिया से जावा तक सहृदय मानव को अपनी ओर आकृष्ट किया। महायान ने ही शून्यवाद के आचार्य नागार्जुन-असंग-वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति जैसे दार्शनिक उत्पन्न किए जिन्होंने क्षणिक विज्ञानवाद का सिद्धान्त स्थिर किया। जिसने गौड़पाद और शंकराचार्य के दर्शनों को आगे जन्म दिया। मसीह की चौथी शताब्दी तक महायान पूर्ण रूपेण विकसित हुआ और उसके बाद अगली

तीन शताब्दियों में उसने भारत और भारत की उत्तर दिशा के बौद्धजगत् को आत्मसात् कर लिया।

इसी समय से वज्रयान उसमें से अंकुरित होने लगा। और आठवीं शताब्दी में चौरासी सिद्धों की परम्परा के प्रादुर्भाव के साथ वज्रयान भारत का प्रमुख धर्म बन गया। बौद्धधर्म का यह अन्तिम रूप था, जो अपने पीछे वाममार्ग को छोड़कर तेरहवीं शताब्दी में तुर्कों की तलवार से छिन्न-भिन्न हो गया।

भारतीय जीवन को बौद्धधर्म ने एक नया प्राण दिया। बौद्ध-संस्कृति भारतीय संस्कृति का एक अभंग और महत्त्वपूर्ण अंग थी। उसने भारतीय-संस्कृति के प्रत्येक अंग को समृद्ध किया। न्याय-दर्शन और व्याकरण में जैसे चोटी के हिन्दू विद्वान् अक्षपाद, वात्स्यायन, वाचस्पति, उदयनाचार्य थे उससे कहीं बढ़े-चढ़े बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर गुप्त और ज्ञानश्री थे। पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि जैसे दिग्गज हिन्दू वैयाकरणों के मुकाबिले में बौद्ध पण्डित काशिकाकार जयादित्य, न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि तथा पाणिनि सूत्रों पर भाषा वृत्ति बनाने वाले पुरुषोत्तमदेव कम न थे। कालिदास के समक्ष अश्वघोष को हीन कवि नहीं माना जा सकता। सिद्ध नागार्जुन तो भारतीय रसायन के एकक्षत्र आचार्य हैं। आरम्भिक हिन्दी का विकास भी बौद्धों ने किया। उनके अपभ्रंश काव्यों की पूरी छाप उत्तर कालीन सन्तों की निर्गुण धारा पर पड़ी।

इतना ही नहीं, कला का विकास भी बौद्धों ने अद्वितीय रूप से किया। साँची, भरहुत, गान्धार, मथुरा, धान्य कण्टक, अजन्ता, अलची-सुभरा की चित्रकला एवं ऐलोरा-अजन्ता, कोली-भाजा के गुहाप्रासाद बौद्धों की अमर देन है। इस प्रकार साहित्य-संस्कृति-मूर्तिकला-चित्रकला और वास्तुकला के विकास में बौद्ध संस्कृति ने भारत को असाधारण देन दी।

आठवीं शताब्दी में जब शंकर और कुमारिल नये हिन्दू धर्म का शिला-रोपण कर रहे थे नालन्दा और विक्रमशिला के बौद्ध विहार परम उत्कर्ष पर थे। नालन्दा में तब शान्तिरक्षित धर्मोत्तर जैसे प्रकाण्ड दार्शनिक विराजमान थे। नवीं शताब्दी में वज्रयान का उत्कट रूप प्रकट हुआ। तब सरहपा, शबरपा, लुहण, कण्हपा जैसे महासिद्धों का अखण्ड प्रताप भारत में चारों ओर छाया हुआ था।

खेद की बात है कि भारत के जीवन में नये प्राणों का संचार कर बौद्धधर्म भारत से लुप्त हो गया। बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में गहड़वारों की राज्यसत्ता की समाप्ति हुई और उसके साथ ही भारतीय स्वतन्त्रता का सूर्य अस्त हुआ। उसी के साथ ही साथ बौद्धधर्म का भी भारत से लोप हो गया।

प्रागैतिहासिक काल का अफगानिस्तान भारत का अंग रहा है। अफगानिस्तान की जड़ें भारतीय संस्कृति से बँधी हुई हैं। वैदिक काल में अफगानिस्तान में कई 'जन' थे, जिनके नाम अब भी अफगानिस्तान के कबीलों में मिलते हैं। बुद्ध के काल में यह भूभाग दारदोशशासानुशास के अधीन था। तब वह गान्धार देश कहलाता था। गान्धार नगर अब भी अफगानिस्तान में है। काबुल के पास की उपत्यका कपिशा विख्यात थी जिसे आज कोह दामन कहते हैं। पाणिनीय काल में वहाँ की अंगूरी शराब कापिशायिनी विख्यात थी। आज

भी वहाँ के अंगूरों की समता नहीं है। तक्षशिला पूर्वी गान्धार की राजधानी थी। इस प्रकार गान्धार का राज्य कभी रावलपिण्डी से हिन्दुकुश तक फैला हुआ था। बुद्ध के काल में तक्षशिला विद्या और वाणिज्य का केन्द्र था तथा उत्तरी भारत से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। वहाँ के पोक्कसाति राजा ने बुद्ध का यश सुनकर राज्य छोड़ दिया था, और वह तक्षशिला से बुद्ध के पास मगध में जाकर भिक्षु बना था। अशोक ने एक धर्म प्रसारक स्तूप तक्षशिला में ही बनवाया था। मौर्य वंश के बाद तो काश्मीर और गान्धार बौद्धधर्म के केन्द्र बन गए थे। और यह कहा जा सकता है कि ग्रीक और शक जातियों को भारतीय संस्कृति की शिक्षा देने का सबसे बड़ा श्रेय गान्धार के बौद्ध भिक्षुओं को ही है। महावैयाकरण पाणिनि, महादार्शनिक असंग और वसुबन्धु पठान ही थे। कहना चाहिए कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से ईसा की दसवीं शताब्दी तक, बारह सौ वर्ष का गान्धार-अफगानिस्तान बौद्धधर्म, संस्कृति और साहित्य का केन्द्र रहा। मध्य एशिया और चीन में बौद्धधर्म के प्रसार का श्रेय भी अफगानिस्तान को ही है। उन दिनों चीन और मध्य एशिया का मार्ग कपिशा (कोहे दामन) होकर ही था। इस कारण अफगानिस्तान के लोग मध्य एशिया में केवल वाणिज्य-व्यापार का ही विस्तार न करते थे, धर्म और संस्कृति की देन भी मध्य एशिया को देते थे।

आज के अफगानिस्तान में बुतपरस्ती एक जघन्य काम समझा जाता है। परन्तु कला और संस्कृति का वही स्वर्णयुग अफगानिस्तान का था जब सारा ही अफगानिस्तान बुतपरस्त था। बुतपरस्त वास्तव में फारसी शब्द ‘बुद्ध-परस्त‘ (बुद्धपूजक) का विकृत रूप है।

चीनी तुर्किस्तान और सोवियत तुर्किस्तान दोनों ही मिलकर मध्य एशिया कहाते हैं। पश्चिमी मध्य एशिया का बुखारा नगर बौद्धधर्म का कभी प्रमुख केन्द्र था। मंगोल लोग आज भी विहार को बुखारा कहते हैं। तुर्क और तत्कालीन दूसरी जातियाँ भी अपनी भाषा में विहार को बुखाटे कहती थीं। इस्लाम के वहाँ आने से प्रथम इस स्थान पर एक बहुत भारी विहार था, जिसके कारण नगर का यह नाम प्रसिद्ध हो गया। अरबों के शासन के प्रारम्भिक दिनों में इस नगर में छोटी-बड़ी अनेक बुद्ध की मूर्तियाँ बिका करती थीं जिन्हें बुत कहा जाता था। किपचिक मरुभूमि के निवासी और अन्य देशों के यात्री ये मूर्तियाँ खरीद ले जाते थे। उन दिनों तुसार देश में (तुषार), जो वक्षुनदी के दोनों पार हिन्दुकुश और दरबन्द की पहाड़ियों के बीच में था, बौद्ध विहार का जाल बिछा था।

दक्षिणी चीन में पाँचवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म का भारी प्रसार हुआ। इस समय यहाँ 21 अनुवादक काम कर रहे थे। इस समय तीर्थयात्रा की भाँति भारत आने का चीन में रिवाज हो गया था। इस समय अनेक भारतीय बौद्ध विद्वान् चीन में और चीनी विद्वान् भारत में आकर सांस्कृतिक आदान-प्रदान कर रहे थे। भारतीय विद्वानों में बुद्धजीव, गुणवर्मा और गुणभद्र परमार्थ प्रमुख थे। सम्राट् ऊ-ती के पुत्र युवान-ची के निजी पुस्तकालय में 40 हज़ार पुस्तकों का संग्रह था।

सातवीं शताब्दी के आरम्भ ही से चीन में बौद्धधर्म का विरोध आरम्भ हुआ। काङ सम्राटों ने सातवीं शताब्दी का अन्त होते-होते बारह हज़ार भिक्षु-भिक्षुणियों को जबर्दस्ती गृहस्थ बना दिया। काङ सम्राट् के दरबार में इतिहासकार फू-ही ने बहस करते हुए कहा था कि इस समय एक लाख से अधिक भिक्षु-भिक्षुणियाँ हैं। मेरी सलाह है कि परम भट्टारक

आज्ञा घोषित करें कि इन सभी भिक्षु-भिक्षुणियों को ब्याह करना होगा। इससे एक लाख परिवार तैयार हो जायेंगे, जो दस साल के भीतर दस लाख लड़के-लड़कियाँ पैदा करेंगे, जो सम्राट् के लिए सैनिक बनेंगे। द्वितीय काङ सम्राट् ने घोषित कर दिया था कि नये विहारों का बनाना, मूर्ति स्थापना तथा बौद्ध ग्रन्थों का लिखना अपराध माना जाए। परन्तु इस समय में भी चीन में 4600 मठ-विहार, 40 हज़ार मन्दिर और ढाई लाख से ऊपर बौद्ध भिक्षु थे। नवीं शताब्दी के मध्य में बौद्ध विद्वानों की सब सम्पत्ति जब्त कर ली गई। पीतल की मूर्तियाँ गलाकर सिक्के ढाले गए, लोहे की मूर्तियाँ तोड़कर किसानों के हथियार बनाए गए। सोने-चाँदी की मूर्तियाँ तोड़कर, सोना-चाँदी राजकोष में जमा कर लिया गया।

सम्राट् की आज्ञा से 4600 विहार नष्ट कर दिये गये। दो लाख 60 हज़ार भिक्षु-भिक्षुणियों को गृहस्थ बना दिया गया। 40 हज़ार मन्दिर ढहा दिए गए। दस लाख एकड़ जमीन जब्त कर ली गई और 1 लाख दासों को मुक्त कर दिया गया।

इस प्रकार चीन में बौद्धधर्म पर प्रथम प्रहार हुआ, जो फिर मध्य एशिया में फैलता हुआ भारत तक आ पहुँचा।

नवीं शताब्दी के मध्य में जब चीन में ये घटनाएँ घटित हो रही थीं, तब भारत में नालन्दा और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों में वज्रयान की धूम मची हुई थी।

दसवीं शताब्दी के उषाकाल ही में काङ वंश समाप्त हो गया। और चीन में अराजकता, लूट-मार और अव्यवस्था फैल गई। इस काल में विलास भी चरम सीमा को पहुँच चुका था। काङ दरबार में 10 लाख नर्तकियाँ थीं। नृत्य में माधुर्य लाने के लिए उनके पैर बाँधकर छोटे कर दिए जाते थे। चीन में स्त्रियों के पैर बाँधकर उन्हें छोटे करने की रीति इसी काल में चली। इसी समय चीन में छापने के यन्त्र का आविष्कार हुआ, जो सम्भवत: बौद्धों ने ही किया।

तेरहवीं शताब्दी में चीन पर मंगोलों का अधिकार हुआ। मंगोल घुमक्कड़ जाति के भयंकर पुरुष थे। केवल चीन ही को नहीं—सारे सभ्य संसार को इस महाप्रलय का सामना करना पड़ा। यह विनाश का अग्रदूत था मंगोल सम्राट् ते-मू-चिन् जिसे चंगेज खाँ भी कहा गया है। प्रशान्त सागर से भूमध्यसागर, साइबेरिया, हिमालय तक के विशाल भूभाग का वह अप्रतिम विजेता था। उसने अपने काल के सभी घुमक्कड़ कबीलों को एक सूत्र में संगठित किया और वह खानों का खान कहाया। मंगोलों के अनेक सम्राट् हुए। अन्त में तेरहवीं शताब्दी में कुबलै खान ने बौद्धधर्म स्वीकार कर उसे राजधर्म घोषित किया। 14वीं शताब्दी में ही मंगोल शासन का चीन में अन्त हुआ, परन्तु मंगोलों में बौद्धधर्म का विस्तार वैसा ही बढ़ता गया।

सातवीं शताब्दी के आरम्भ में जब भारत में महानृप हर्ष का अबाध शासन चल रहा था उस समय सारा तिब्बत घुमन्तू जीवन व्यतीत कर रहा था। इसी समय तिब्बत में सातवीं शताब्दी का सबसे बड़ा विजेता स्रोङ्गचन-सान-यो का जन्म हुआ। उसने सब घुमक्कड़ सरदारियों को तोड़कर भोट जाति का एकीकरण किया और उनकी सेना का संगठन कर, उसने आसाम से काश्मीर तक के सारे हिमालय और चीन के तीन प्रदेशों को जीत लिया। उसके राज्य की सीमा हिमालय की तराई से पूर्वी मध्य एशिया के भीतर शान-सान की पहाड़ियों तक विस्तृत थी। तिब्बत से बाहर आते ही उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम

जिधर भी उसने पैर बढ़ाया सर्वत्र बौद्ध सम्पर्क में आना पड़ा। उसके राज्य के दक्षिणी अंचल नेपाल और काश्मीर थे, जो भारत के भाग होने के कारण बुद्ध की जन्मभूमि समझे जाते थे। उत्तर और पूर्व में तुर्क और चीन के समृद्ध बौद्ध राज्य थे। इन सबके सम्पर्क में आकर इस नये विजेता के नेतृत्व में तिब्बत ने नये सांस्कृतिक रूप को धारण किया। उसने चीन और नेपाल की राकुमारियों से विवाह किया। लासा को राजधानी बनाया। पड़ोसी देशों की तड़क-भड़क के अनुरूप ही इस असंस्कृत सम्राट् ने अपने नगर को सांस्कृतिक रूप दिया। नेपाल और चीन की रानियों ने बुद्ध मूर्ति की राजधानी में स्थापना की और उसके चतुर मन्त्री सम्मोटा ने भोट भाषा को लिपिबद्ध कर, लिखा-पढ़ी के द्वारा राज-काज चलाना आरम्भ किया। सम्राट् ने स्वयं लिखने-पढ़ने का अभ्यास किया। फिर बौद्ध ग्रन्थों का, वैद्यक ग्रन्थों का और गणित की पुस्तकों का भोट भाषा में अनुवाद हुआ। और इस प्रकार नये सम्राट् की नयी जनता शिक्षित होने लगी। और जन-जागरण के साथ-साथ ही भोट जाति में बौद्ध धर्म के संस्कारों का उदय हुआ।

इस सम्राट् के 100 वर्ष बाद नालन्दा के महान् दार्शनिक शान्तिरक्षित तिब्बत में आमन्त्रित किए गए। उन्होंने वहाँ पहिला मठ स्थापित किया और मगधेश्वर महाराज धर्मपाल के बनवाए उदन्तपुरी के महाविहार के अनुरूप विहार की नींव डाली गई। नालन्दा से आचार्य शान्तिरक्षित ने बारह भिक्षु बुलाए और सात भोटदेशीय कुलपुत्रों को भिक्षु बनाया। इस प्रकार भिक्षु संघ और भिक्षु विहार की तिब्बत में स्थापना हुई। 100 वर्ष की आयु में आचार्य का शरीरपात हुआ और उनका शरीर विहार की पहाड़ी पर एक स्तूप में रखा गया। उन्होंने जीवन के 25 वर्ष तिब्बत में व्यतीत किए और अब तक वे वहाँ बोधिसत्त्व की भाँति पूजे जाते हैं। इसके बाद आचार्य कमलशील तिब्बत गए। अब तिब्बत का साम्राज्य और विस्तृत हो गया था। वहाँ बहुत-से बौद्ध विद्वान् पहुँच चुके थे। स्वयं तिब्बत में भी अनेक आचार्य उत्पन्न हो गए थे। परन्तु नवीं शताब्दी में सम्राट् दटम ने बौद्धों पर अत्याचार आरम्भ कर बौद्धधर्म को तिब्बत से बहिष्कृत करने की चेष्टा की। ग्यारहवीं शताब्दी में आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान अतिश तिब्बत गए और उन्होंने नये सिरे से वहाँ बौद्धधर्म की प्रतिष्ठा की।

वे केवल तेरह वर्ष ही वहाँ जीवित रहे। पर इस बीच उन्होंने बहुत काम किया। इसके बाद ही भारत से बौद्ध धर्म का लोप हो गया और भारत का धर्म स्रोत सूख गया।

इस समय भी भारत में बौद्धधर्म के बड़े केन्द्र थे, जहाँ विश्ववन्द्य आचार्य रहते थे। आजकल जिसे बिहार शरीफ कहते हैं, तब यह उदन्तपुरी कहाता था तथा यहाँ एक महाविहार था। इस विहार की स्थापना मगधेश्वर महाराज धर्मपाल ने की थी। गंगा तट, जिला भागलपुर, में विक्रमशिला विहार बहुत भारी विद्यापीठ था। यह सुल्तानगंज की दोनों टेकरियों पर अवस्थित था। इसकी स्थापना भी पालवंशी महाराज धर्मपाल ने 8वीं शताब्दी में की थी। उदन्तपुरी के निकट विश्वविख्यात नालन्दा विश्वविद्यालय था। बुद्धगया उस काल में वज्रासन कहाता था। दीपंकर श्रीज्ञान का जन्म भागलपुर के निकटवर्ती किसी सामन्त के घर हुआ था। पीछे उन्होंने नालन्दा, वज्रासन, विक्रमशिला, राजगृह तथा सुदूर चम्पा में जाकर ज्ञानार्जन किया था। और पीछे उनकी गणना विक्रमशिला के आठ महापण्डितों में की गई थी। उन्होंने अपने अन्तिम दिन तिब्बत को ज्ञान-दान देने में व्यतीत

किए।

दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी का अन्त होते-होते उत्तर भारत में पालों, गहरवारों, चालुक्यों, चन्देलों और चौहानों के अतिरिक्त सोलंकी और परमारों के राज्य स्थापित हो गए थे। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में भारत की शक्ति 7 दरबारों में विभाजित थी, जो सब स्वतन्त्र थे। पूर्वी भारत में बौद्धों के वज्रयानी सिद्धों का डंका बज रहा था, जिनके केन्द्र नालन्दा, विक्रमशिला, उदन्तपुरी और वज्रासन थे। पाल राजा सिद्धों के भक्त थे और उनके केन्द्र उन्हीं के द्वारा पनप रहे थे।

ईसा के पहिली दो-तीन शताब्दियों में यवन, शक, आभीर, गुर्जर आदि जातियाँ भारत में घुसीं, उस समय बौद्धों की विजय-वैजयन्ती देश में फहरा रही थी। उन्होंने विदेशियों को समाज में समानता के अधिकार दिए। ब्राह्मणों ने प्रथम तो म्लेक्ष कहकर तिरस्कार किया परन्तु पीछे जब इन म्लेक्षों में कनिष्क और मिनिन्दर जैसे श्रद्धालुओं को उन्होंने देखा, जिन्होंने मठ और मन्दिरों में सोने के ढेर लगा दिए थे, तो उन्होंने भी इन आगन्तुकों का स्वागत करना आरम्भ कर दिया। बौद्धों ने उन्हें जहाँ समानता का अधिकार दिया था, वहाँ उन्हें ब्राह्मणों ने अत्यन्त ऊँचा केवल अपने से एक दर्जे नीचा क्षत्रिय का स्थान दिया। उन्हें क्षत्रिय बना दिया और इन विदेशाी नवनिर्मित क्षत्रियों के लिए अपना प्राचीन दार्शनिक धर्म छोड़ नया मोटा धर्म निर्माण कर लिया, जिसे समझने और उस पर आचरण करने में उन विदेशियों को कोई दिक्कत नहीं हुई। इन विदेशियों की टोलियाँ सामन्त राजाओं के रूप में संगठित हो गईं और वे ब्राह्मण उनके पुरोहित, धर्मगुरु और राजनैतिक मन्त्री हो गए। इस प्रकार इस नये हिन्दू धर्म में प्रथम पुरोहित, उसके बाद ये सामन्त राजा रहे। राजनीति में प्रथम राजा और उसके बाद ब्राह्मण रहे।

ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में जब ये सामन्त और उनके पुरोहित सुगठित हो चुके थे, बौद्ध धर्म निस्तेज होने लगा था। सामन्तों के हाथा में देश की सम्पूर्ण सत्ता थी और वे सम्पूर्णतया ब्राह्मणों के अधीन थे।

बौद्ध तो अभी भी दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के दर्शनों पर गर्व करते थे। कभी-कभी वे योग-समाधि, तन्त्र-मन्त्र, भूत-प्रेत-डाकिनी के चमत्कार दिखाने लगते थे। सिद्धों के विचित्र जीवन और लोकभाषा की उनकी अटपटी रहस्यपूर्ण कविताएँ, कुछ लोगों को आकर्षित करती थीं। परन्तु सामाजिक जीवन में उनका कुछ भी हाथ न रह गया था। ब्रह्मचर्य और भिक्षु जीवन, जो बौद्धधर्म की सबसे बड़ी सम्पदा थी, अब केवल एक ढोंग रह गया था।

'वज्रयान' जो बौद्धधर्म का सबसे विकृत रूप था, सातवीं शताब्दी के पूर्व ही देश के पूर्वी भागों में फैल गया था। नालन्दा-विक्रमशिला-उदन्तपुरी-वज्रासन इसके अड्डे थे और इनका प्रसार बिहार से आसाम तक था। ये बौद्धभिक्षु अब तांत्रिक सिद्ध कहलाते थे और वामाचारी होते थे। ऐसे 'चौरासी सिद्ध' प्रसिद्ध हैं, जिनकी अलौकिक शक्तियों और सिद्धियों पर सर्वसाधारण का विश्वास था। इन सिद्धों में जहाँ बड़े-बड़े आचार्य-विद्वान् थे वहाँ थोड़े पढ़े-लिखे नीच जाति के डोम, चमार, चाण्डाल, कहार, दर्जी, शूद्र तथा अन्य ऐसे ही आदमी अधिक होते थे। कुछ तो अनपढ़ होने के कारण और कुछ इसलिए भी कि वे जनता पर अपना प्रभाव कायम रख सकें, वे प्रचलित लोकभाषा में गूढ़ सांकेतिक कविताएँ

करते थे।

इसी वज्रयान का एक अधिक विकृत रूप सहजयान सम्प्रदाय था। इसका धर्मरूप महा सुखद था। इसके प्रवर्तक 'सरहपा' थे। इन्होंने गृहस्थ समाज की स्थापना की थी, जिसमें गुप्त रीति पर मुक्त यौन सम्बन्ध पोषक चक्र, सम्बर आदि देवता, उनके मन्त्र और पूजा-अनुष्ठान की प्रतिष्ठा हुई। शक्तियों सहित देवताओं की 'युगनद्ध' मूर्तियाँ अश्लील मुद्राओं में पूजी जाने लगीं। साथ ही मन्त्र-तन्त्र, मिथ्या विश्वास और ढोंग का भी काफी प्रसार हुआ।

परन्तु जब मुहम्मद-बिन-खिलजी ने इन धर्मकेन्द्रों को ध्वंस कर सैकड़ों वर्षों से संचित स्वर्णरत्न की अपार सम्पदा को तारा, कुरुकुल्ला, लोकेश्वर मंजुश्री के मन्दिरों और मठों से लूट लिया और वहाँ के पुजारियों, भिक्षुओं और सिद्धों का एक सिरे से कत्लेआम किया, तब ये सारी दिव्य शक्तियाँ दुनिया से अन्तर्धान हो गईं। इस कत्लेआम में बौद्धों का ऐसा बिनाश हुआ कि उसके बाद बौद्धधर्म का नाम लेने वाला भी कोई पुरुष भारत में ढूँढ़े न मिला। मुसलमानों को, भारत से बाहर भी मध्य एशिया में जरफशों और वक्षु की उपत्यकाओं, फर्गाना और वाल्हीक की भूमियों में बौद्धों का मुकाबिला करना पड़ता था। घुटे चेहरे और रंगे कपड़े वाले इन बुतपरस्त (बुद्धपूजक) भिक्षुओं से वे प्रथम ही से परिचित थे। इसी से भारत में जब उनसे मुठभेड़ हुई तो उन्होंने उन पर दया नहीं दिखाई। उन्होंने खोज-खोजकर बौद्धों के सारे छोटे-बड़े विहार नष्ट कर दिए। बौद्धों को अब खड़े होने का स्थान न रह गया। भारतीय बौद्धधर्म संघ के प्रधान शाक्य श्रीभद्र विक्रमशिला विद्यालय के ध्वस्त होने के बाद भागकर पूर्वी बंगाल के 'जगत्तला' विहार में पहुँचे। जब वहाँ भी तुर्कों की तलवार पहुँची, तब नेपाल जाकर वे शरणापन्न हुए। पीछे वे तिब्बत चले गए। शाक्य श्रीभद्र की भाँति न जाने कितने बौद्ध सिद्ध विदेशों को भाग गए। भारत में तो रंगे कपड़े पहनना मौत का वारंट था। अब न उनके खड़े होने का भारत में स्थान था, न उनका कोई संरक्षक था और न जनता का ही उन पर विश्वास रह गया था। इसलिए वे तिब्बत, चीन, बर्मा और लंका की ओर भाग गये। उनके इस प्रकार अन्तर्धान होने पर बौद्ध गृहस्थ भी अपने धर्मकृत्य भूल गए। और इस प्रकार नालन्दा, विक्रमशिला और उदन्तपुरी के ध्वंस के कुछ ही पीढ़ी बाद, बुद्ध की जन्मभूमि भारत में बौद्ध धर्म का सर्वथा लोप हो गया।

हमारा यह उपन्यास बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण की घटनाओं पर आधारित है। इस समय विक्रमशिला-उदन्तपुरी वज्रासन और नालन्दा विश्वविद्यालय वज्रयान और सहजयान सम्प्रदायों के केन्द्र स्थली हो रहे थे, तथा उनके प्रभाव से भारतीय हिन्दू-शैव-शाक्त भी वाममार्ग में फँस रहे थे। इस प्रकार धर्म के नाम पर अधर्म और नीति के नाम पर अनीति का ही बोलबाला था। हम इस उपन्यास में उसी काल की पूर्वी भारतीय जीवन की कथा उपस्थित करते हैं।

–चतुरसेन

क्रम

समारोह

आजकल जहाँ भागलपुर नगर बसा है, वहाँ ईसा की बारहवीं शताब्दी में विक्रमशिला नाम का समृद्ध नगर था। नगर के साथ ही वहाँ विश्वविश्रुत बौद्ध विद्यापीठ था। विक्रमशिला के नगरसेठ धनंजय का हिमधौत धवल महालय आज विविध रंग की पताकाओं, बन्दनवारों और मांगलिक चिह्नों से सजाया जा रहा था। सिंहद्वार का तोरण फूलों से बनाया गया था। बड़े-बड़े हाथियों-घोड़ों-रथों-पालकियों पर और दूसरे वाहनों पर नगर के धनी-मानी नर-नारी, सेठ-साहूकार और राजवर्गीय पुरुष आज धनंजय सेट्ठि के महालय में आ रहे थे। रंगीन कुत्तक और जड़ाऊ उष्णीष पहिने विनयधर और दण्डधर सोने-चाँदी के दण्ड हाथों में लिए दौड़-दौड़कर समागत अतिथियों की अभ्यर्थना कर रहते थे। दास-दासी, द्वारपाल सब अपनी-अपनी व्यवस्था में व्यस्त रहे थे। महालय का वातावरण अतिथियों और उनके वाहनों की धूमधाम और कोलाहल से मुखरित हो रहा था।

नगर सेट्ठि धनंजय की आयु साठ को पार कर गई थी। उनका शरीर स्थूल और रंग मोती के समान उज्ज्वल था। उनके स्निग्ध मुखमण्डल पर सफेद मूँछों का गलमुच्छा उनकी गम्भीरता का प्रदर्शन कर रहा था। वह शुभ्र परिधान पहिने, कण्ठ में रत्नहार धारण किए, मस्तक पर बहुमूल्य उष्णीष पहिने समागत अतिथियों का स्वागत कर रहे थे। उनके होंठ अवश्य मुस्करा रहे थे, पर उनका हृदय रो रहा था। उनका मुख भरे हुए बादलों के समान गम्भीर और नेत्र आर्द्र थे। आज उनका इकलौता पुत्र प्रव्रज्या लेकर भिक्षुवृत्ति ग्रहण कर रहा था। यह असाधारण समारोह इसी के उपलक्ष्य में था।

एक हजार भिक्षुसंघ सहित, आचार्य भदन्त वज्रसिद्धि प्रांगण में पहुँच चुके थे। भिक्षुगण पीत चीवर पहिने, सिर मुंडाए, मन्द स्वर से पवित्र काव्यों का उच्चारण कर रहे थे। उनका सम्मिलित कंठस्वर वातावरण में एक अद्‌भुत कम्पन उत्पन्न कर रहा था। महालय में जो गन्ध द्रव्य जल रहा था उसके सुवासित धूम से सुरभित वायु दूर-दूर तक फैल रही थी। विविध वाद्य बज रहे थे। सम्मानित अतिथि आपस में धीरे-धीरे भाँति-भाँति की जो बातचीत मन्द स्वर से कर रहे थे उससे सारी ही अट्टालिका मुखरित हो रही थी।

धनंजय सेट्ठि ने व्यस्त भाव से इधर-उधर देखा। सामने ही उनका अन्तेवासी विश्वस्त सेवक सुखदास उदास मुँह चुपचाप निश्चेष्ट खड़ा था। सेठ ने कहा–"भणे सुखदास, तनिक देख तो, पुत्र के तैयार होने में अब कितना विलम्ब है। भिक्षुगण तो आ ही गए हैं। अब परम भट्टारक महाराजाधिराज और आचार्य के आने में विलम्ब नहीं है।"

सुखदास ने मालिक की विषादपूर्ण दृष्टि और कम्पित स्वर को हृदयंगम किया और बिना ही उत्तर दिए स्वामी के सम्मुख मस्तक नत कर भीतर चला गया।

सुखदास सेठ का पुराना नौकर था। उसका इस महाजन के घर में परिवार के पुरुष

की भाँति आदर-मान था। वह अधेड़ आयु का एक ठिगना, मोटा और गौरवर्ण का पुरुष था। चाँद उसकी गंजी थी, चेहरा सदा हास्य से भरा रहता था पर इस समारोह में उसका मुँह भी भरे हुए बादलों के समान हो रहा था। वह सेठ के दु:ख और विवशता को जानता था। उसके पुत्र की मनोदशा भी समझता था। जो कार्य हो रहा था वह उसका कट्टर विरोधी था। परन्तु वह विवश था।

बौद्धों के पाखण्ड, दुराचार और दुष्ट वृत्ति को वह जानता था। इन ढोंगी भिक्षुओं की धर्षणा करने का वह कोई अवसर चूकता नहीं था।

महाश्रेष्ठि के पुत्र का नाम दिवोदास था। वह बाईस वर्ष का दर्शनीय युवक था। रंग उसका मोती के समान था। उज्ज्वल हीरक पंक्ति-सी उसकी धवल दन्तावलि थी। उत्फुल्ल कमलदल-से उसके नेत्र थे और सघन घन गर्जन-सा उसका कण्ठस्वर था। वह नवीन वृषभ की भाँति चलता था। उसका हास्य जैसे फूल बिखेरता था।

सुखदास ने सेट्ठि पुत्र को गोद खिलाया था। उसकी अपनी कोई सन्तान न थी। इस निरीह दम्पति ने सेट्ठि पुत्र में ही अपना वात्सल्य समर्पित किया था। बालक दिवोदास सेवक सुखदास के घर जाकर उसकी गोद में बैठकर उसके हाथ से उसके घर का रूखा-सूखा भोजन करता और उसी की गोद में सुखदास की कहानियाँ सुनते-सुनते सो जाता था। श्रेष्ठि और उनकी गृहिणी को इसमें आपत्ति न थी। पुत्र के प्रति सुखदास के प्रेम से वे परिचित थे। इसमें उन्हें सुखोपलब्धि होती थी।

इसी प्रकार दिवोदास युवा हो गया। युवा होने पर भी सुखदास के प्रति उसकी आसक्ति गई नहीं। वह उसे पितृव्य कहकर पुकारता था। सुखदास दिवोदास के विवाह की कितनी ही रंगीन कल्पनाएँ करता। पति-पत्नी झूठमूठ को ही दिवोदास के विवाह की किसी काल्पनिक बात को लेकर लड़ पड़ते, और जब दोनों निर्णय के लिए श्रेष्ठि दम्पति के पास जाते, श्रेष्ठि दम्पति खिलखिलाकर हँस पड़ते थे।

आज इन सब सुखद भावनाओं पर जैसे तुषारपात हो गया। सुखदास की मर्मकथा को कौन जान सकता था! वह अपने हाहाकार करते हुए हृदय की पीड़ा को छिपाकर अन्त:पुर की ओर चला गया।

अन्त:पुर में परिचारिकाएँ दिवोदास को मन्त्रपूत जल से स्नान करा रही थीं। पाँच भिक्षु मन्त्र पाठ कर रहे थे। दिवोदास गम्भीर थे।

उनके स्वर्णगात पर केसर का उबटन किया गया था। सुगन्ध से कक्ष भर रहा था। चेरी और सुहागिनें मंगल गीत गा रही थीं। परिचारिकाओं ने स्नान के बाद दिवोदास को बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण पहनाए। यह देख गृहपत्नी ने आँख में आँसू भरकर कहा–"पुत्र का यह कुछ ही क्षणों का श्रृंगार है, फिर तो पीत चीवर और भिक्षापात्र!" उसकी आँखों से झर-झर अश्रुधार बह चली।

सुखदास ने गृहिणी का यह विषादपूर्ण वाक्य सुन लिया। उसने ठण्डी साँस लेकर कहा–"हाय, आज का यह दिन देखने ही को मैं जीवित रहा!" परन्तु शीघ्र ही उसने अपने को सम्हाला। आँख की कोर में आए आँसू पोंछ डाले और आगे बढ़कर कहा–"कुमार, मालिक की आज्ञा है कि महाराजाधिराज और आचार्य के पधारने में अब देर नहीं है, तनिक जल्दी करो।"

कुमार ने स्थिर स्वर में कहा–''पितृव्य, पितृचरणों में निवेदन कर दो कि यह दास तैयार है।''

सुखदास ने क्षण-भर ओस से भीगे हुए शतदल कमल की भाँति सुषमा सम्पन्न कुमार के मुख की ओर देखा—और 'अच्छा' कहकर वहाँ से चला गया।

इसी समय श्रेष्ठि ने आकर दोनों हाथ फैलाकर कहा–''पुत्र, प्यारे पुत्र!''

दिवोदास ने सम्मुख खड़े होकर कहा—''पितृचरणों में अभिवादन करता हूँ।''

''आयुष्मान् हो, यशस्वी हो, पुत्र।''

''अनुगृहीत हुआ।''

''तो पुत्र, तुम तैयार हो?'' श्रेष्ठि ने कम्पित कण्ठ से कहा।

''हाँ पिता।''

''पुत्र, मेरा हृदय बैठा जा रहा है।''

''पिताजी, यह तो आनन्द का अवसर है।''

''अरे पुत्र, तेरे बिना मैं रहूँगा कैसे? यह सारी पृथ्वी तप्त तवे की भाँति अभी से जलती दीख रही है। अब यह सुख-वैभव, धनराशि... हाय, मैंने सोचा था. .. किन्तु महाराज की आज्ञा...'' सेठ के होंठ काँपे और नेत्रों से आँसू टपक पड़े।

सुखदास ने व्यस्त भाव से आकर कहा—''स्वामिन्, महाराजाधिराज श्री गोविन्दपाल देव तथा भिक्षुश्रेष्ठ आचार्य बन्धुगुप्त पधार रहे हैं।''

धनंजय सेठ ने आँखें पोछीं और उनकी अभ्यर्थना को दौड़ चले। उन्होंने महाराज और भिक्षुश्रेष्ठ की अभ्यर्थना की और कक्ष में ले आए।

दिवोदास ने भूपात करके साष्टांग प्रणाम किया।

बन्धुगुप्त ने दोनों हाथ ऊँचे कर कहा—''कल्याण, कल्याण!'' फिर आगे बढ़कर सेठ से कहा—''श्रेष्ठिराज, महासंघस्थविर वज्रसिद्धि ने आपका मंगल पूछा है, तथा मंजुश्री वज्रतारा देवी का यह गन्धमाल्य दिया है।''

धनंजय सेठ ने गन्धमाल्य लेकर मस्तक पर रक्खा। और कहा–''भला महासंघस्थविर प्रसन्न तो हैं?''

''वे सदा सबकी कल्याण-कामना में लगे रहते हैं, वे सर्वत्यागी सिद्ध महापुरुष हैं, उन्हें सुख-दु:ख नहीं व्यापता।'' फिर उन्होंने आगे बढ़कर कुमार के मस्तक पर हाथ धर कहा–''धन्य कुमार! तुमने वही किया जो तथागत ने किया था, तुम्हारा जीवन धन्य हुआ।''

दिवोदास ने मौनभाव से आचार्य के चरणों में मस्तक नवा दिया।

सेठ ने कहा–''आचार्य मैंने अपना कुल-दीपक धर्म के लिए दिया।''

''श्रेष्ठिराज, यह संसार का दीपक बनेगा।''

इस समय महाराज ने आगे बढ़कर सेठ के कन्धे पर हाथ धरके कहा–''क्या तुम बहुत दुखी हो श्रेष्ठि।''

''नहीं देव, किन्तु अब यही इच्छा है कि ये महल-अटारी, धन-स्वर्ण, सभी संघ की शरण हो जाय, और वह अधम भी संघ के एक कोने में स्थान प्राप्त करे।''

आचार्य ने प्रसन्न मुद्रा में कहा–''यह बहुत अच्छा विचार है। श्रेष्ठिराज, धर्म में

आपकी मति बनी रहे। अच्छा, अब देर क्यों? अनुष्ठान का मुहूर्त तो सन्निकट है।''

''सब कुछ तैयार है आचार्य।'

''तो चलिए।''

सब लोग चले। आगे-आगे सुखदास मार्ग बताता हुआ। पीछे राजा, आचार्य और धनंजय श्रेष्ठि, उनके पीछे कुमार, कुमार के पीछे स्त्रियाँ मंगल गान करती हुई और उनके पीछे मेहमान।

बाहर आने पर कुमार को सुखपाल पर सवार कराया गया। 16 दण्डधर सुखदास की अध्यक्षता में आगे-आगे चले। उनके पीछे स्त्रियाँ मंगल गान करती हुई चलीं। उनके पीछे 100 दासियाँ हाथ में पूजन सामग्री लेकर चलीं। उनके पीछे 100 भिक्षु नमोबुद्धाय', 'नमो अरिहन्ताय' का उच्चारण करते चले। पीछे हाथियों, घोड़ों, पालकियों पर समागत भद्रजन और पैदल।

राह में पुर-स्त्रियों ने अपने सिर के केशों से मार्ग की धूल साफ की, नागरिकों ने पथ पर बहुमूल्य दुशाले बिछाये। कुलवधुओं ने झरोखों से खिले फूल बखेरे।

विविध वाद्य बज रहे थे, भिक्षु मंत्रपाठ करते चल रहे थे।

समारोह संघाराम के विशाल द्वार के सम्मुख आ विस्तृत मैदान में रुक गया। सब कोई पंक्तिबद्ध हो, स्तब्ध भाव से खड़े हो गये। सबकी दृष्टि संघाराम के विशाल सिंहद्वार पर थी, जिसके पट बन्द थे। उन्हीं को खोलकर महासंघस्थविर आने वाले थे।

प्रव्रज्या

संघारमा का सिंह द्वार बड़ा विशाल था। वह गगनचुम्बी सात खण्ड की इमारत थी। समारोह के पहुँचते ही संघाराम की बुर्जियों पर से भेरीनाद होने लगा।

संघाराम दुर्ग की भाँति सुरक्षित था। उसका द्वार बन्द था। सभी की दृष्टि उस बन्द द्वार पर लगी थी। यह द्वार कभी नहीं खुलता था। केवल उसी समय यह खोला जाता था जब कोई राजा, राजकुमार या वैसी ही कोटि का व्यक्ति दीक्षा ग्रहण कर भिक्षु बनता था। श्रेष्ठिपुत्र को इसी द्वार से प्रवेश होने का सम्मान दिया गया था।

बाजे बज रहे थे। भिक्षुगण मन्द स्वर में 'नमो अरिहन्ताय', 'नमो बुद्धाय' का पाठ कर रहे थे।

भेरीनाद के साथ ही सिंहद्वार खुला। सोलह भिक्षु पवित्र पात्र लेकर वेदी के दोनों ओर आ खड़े हुए। धीरे-धीरे आचार्य वज्रसिद्धि स्वर्णदण्ड हाथ में ले स्थिर दृष्टि सम्मुख किए आगे बढ़े। उनके पीछे पाँच महाभिक्षु पवित्र जल का मार्जन करते तथा गन्धमाल्य लिए पृथ्वी पर दृष्टि गड़ाए चले। उन्हें देखते ही सब कोई पृथ्वी पर घुटने टेककर झुक गए। आचार्य सीढ़ी उतर शिष्यों सहित कुमार के पास पहुँचे। उन्होंने मंगल पाठ करके पवित्र जल कुमार के मस्तक पर छिड़का तथा स्वस्तिपाठ करके–'नमोबुद्धाय', 'नमोअरिहन्ताय' कहा। कुमार सिर झुकाए उकड़ूँ उनके चरणों में बैठे थे। आचार्य ने कहा–"उठो वत्स, और वेदी पर चलो।"

वेदी पर बुद्ध की विशाल प्रतिमा थी। उसी के नीचे कुशासन पर महासंघस्थविर बैठे। सम्म्मुख कुमार नतजानु बैठे। दीक्षा का प्रारम्भ हुआ।

आचार्य ने भिक्षुसंघ को सम्बोधित करके कहा–"भन्ते संघ सुने। यह सेट्ठिपुत्र आयुष्मान् दिवोदास उपसम्पदापेक्षी है। यदि संघ उचित समझे तो आयुष्मान् दिवोदास को उपाचार्य बन्धुगुप्त के उपाध्यायत्व में उपसम्पन्न करे।"

इस पर संघ ने मौन सम्मति दी। तब आचार्य ने दुबारा पूछा–"भन्ते संघ सुने। संघ आयुष्मान दिवोदास को उपाचार्य बन्धुगुप्त के उपाध्यायत्व में उपसम्पन्न करता है। जिसे आयुष्मान् दिवोदास की उपसम्पदा आचार्य बन्धुगुप्त के उपाध्यायत्व में स्वीकार है, वह चुप रहें। जिसे स्वीकार नहीं वह बोले।"

उन्होंने दूसरी बार भी, और फिर तीसरी बार भी यह घोषणा प्रज्ञापित की। और संघ के चुप रहने पर घोषित किया गया कि संघ को स्वीकार है।

"अब उपाचार्य आयुष्मान् को उपसम्पदा दें–प्रव्रज्या दें।"

इस पर उपाचार्य बन्धुगुप्त ने दिवोदास से कहा–''आयुष्मान्, क्या उपसम्पदा दूँ?''

तब दिवोदास ने उठकर स्वीकृति दी। उसने सब वस्त्रालंकार त्याग दिया और पीत चीवर पहिन, संघ के निकट जा दाहिना कन्धा खोलकर एक कन्धे पर उत्तरासंग रख भिक्षु चरणों में वन्दना की-फिर उकड़ूँ बैठकर हाथ जोड़कर कहा :

''भन्ते संघ से उपसम्पदा पाने की याचना करता हूँ। भन्ते संघ दया करके मेरा उद्धार करे।''

उसने फिर दूसरी बार भी और तीसरी बार भी यही याचना की।

तब संघ की अनुमति से आचार्य बन्धुगुप्त ने तीन शरण गमन से उसे उपसम्पन्न किया।

दिवोदास ने उकड़ूँ बैठकर–'बुद्धं शरणं गच्छामि।' 'संघं शरणं गच्छामि।' 'धम्मं शरणं गच्छामि' कहा।

आचार्य ने पुकारकर कहा–''भिक्षुओ! अब यह भिक्षु धर्मानुज रूप में प्रव्रजित और उपसम्पन्न होकर सम्मिलित हो गया है। तुम सब इसका स्वागत करो।'' इस पर भिक्षु संघ ने जयघोष द्वारा भिक्षु धर्मानुज का स्वागत किया।

इसके बाद आचार्य ने कहा–''आयुष्मान्, अब तू अपने कल्याण के लिए और जगत् का कल्याण करने के लिए गुह्य ज्ञान अर्जन कर। द्वार पंडित की शरण में जा और विहार प्रवेश कर।''

द्वार प्रवेश

महासन्धिक वज्रसिद्धि दिवोदास को प्रव्रज्या और उपसम्पदा देकर विहार में लौट गए। सिंह द्वार बन्द हो गया। नगर सेट्ठि धनंजय ने आँखों में आँसू भरकर अवरुद्ध कण्ठ से कहा–"धर्म के लिए, स्वर्ग के लिए, कल्याण के लिए मैंने तुझे विसर्जित किया। जा पुत्र, अमरत्व प्राप्त कर।"

उन्होंने पुत्र की परिजनों सहित प्रदक्षिणा की और चौधारे आँसू बहाते घर को लौट गए। शेष बन्धु-बान्धव भी चले गए। अकेला सुखदास दिवोदास के पास खड़ा रह गया। दिवोदास ने भरे हुए बादलों के स्वर में कहा–"पितृव्य, अब तुम भी जाओ। मेरा मार्ग तो अब सबसे ही पृथक् है।"

परन्तु सुखदास ने कहा–"पुत्र, तेरे बिना मैं कैसे जीऊँगा। स्वामी के पास धन-रत्न है, मेरे पास तो वह भी नहीं। तुम जैसे रत्न को गँवाकर भला अब मैं कैसे लौट जाऊँ? मैं भी मूड़ मुड़ाकर भिक्षु बन साथ ही रहूँगा। बिना मेरी सहायता के तो तुम पानी भी नहीं पी सकते पुत्र।"

दिवोदास ने कहा–"पितृव्य, तब बात और थी। और अब बात दूसरी है। अब तो मैंने त्याग का व्रत लिया है। उन सब बातों से अब क्या प्रयोजन है भला।"

"तो पुत्र, तू इस अकिंचन दास को भी त्याग देगा? ऐसा तू निर्मम और कठोर कैसे बन सकता है पुत्र, फिर मेरी वृद्धावस्था को तो देख तनिक।"

सुखदास ने दिवोदास को अंक में भर लिया। दिवोदास ने कहा–"पितृव्य, सबसे प्रथम हमें माया-मोह-ममता ही को तो त्यागना है। इसका त्याग नहीं हुआ तो फिर भला सद्धर्म की शरण जाकर क्या किया!"

"किन्तु पुत्र, तुम्हारे इस सद्धर्म में मेरी तनिक भी श्रद्धा नहीं है। इन पाखण्डी भिक्षुओं को मैं भलीभाँति जानता हूँ। यह सब तुम्हारे पिता की सम्पदा को हरण करने के ढोंग हैं। तुम्हीं इस मार्ग में कण्टक थे, सो उन्होंने इस प्रकार तुम्हें उखाड़ फेंका। परन्तु मैं अपने जीते जी उनकी नहीं चलने दूँगा। तुम्हें भी मैं अपनी आँखों से ओझल नहीं होने दूँगा।"

"पितृव्य, अब यह समय इन बातों पर विचार करने का नहीं है। मैं तो शुद्ध बुद्धि ही से धर्म की शरण आया हूँ। किसी षड्यन्त्र का शिकार मैं नहीं बनूँगा। तुम निश्चिन्त रहो, पितृव्य।"

"तो पुत्र, मैं तुम्हारे साथ हूँ। आज से इस धर्म-पाखण्ड का उन्मूलन करना मेरा धर्म

हुआ।''

''और मैं भी सद्धर्म की शुद्धि के प्रयत्न में कुछ उठा न रखूँगा। अब तुम जाओ पितृव्य। अभी मुझे द्वार पण्डितों की कठिन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना है। ऐसा न हो-द्वार पण्डित मुझे अयोग्य घोषित कर दें और मेरा कुल दूषित हो। जाओ तुम, पिता जी और माता को सान्त्वना देना।''

''जाता हूँ पुत्र, पर शीघ्र ही मिलूँगा।''

सुखदास ने आँखें पोंछी और चल दिया। अब दिवोदास पूर्व द्वार की ओर बढ़े—रत्नाकर शान्ति पूर्वी द्वार का द्वारपण्डित था। यह महावैयाकरण था। द्वार पर पहुँचकर उसने घण्टघोष किया। घोष सुनकर द्वारपण्डित ने गवाक्ष से झाँककर कहा—''कौन हो?''

''अकिंचन भिक्षु।''

''क्या चाहते हो?''

''प्रवेश।''

''तो यह पूर्वी द्वार है। इसका सम्बन्ध शब्दशास्त्र विद्यालय से है। क्या तूने शब्द शास्त्र का अध्ययन किया है? तू मेरे साथ शास्त्रार्थ करने को उद्यत है?''

''मैं ज्ञानान्वेषी हूँ, मैं धर्म की शरण आया हूँ। मैं धर्मतत्त्व सीखना चाहता हूँ।''

''तो भद्र, तू दूसरे द्वार पर जा। इस द्वार से तेरा प्रवेश नहीं होगा। तब दिवोदास दक्षिण द्वार पर गया। यहाँ का द्वारपण्डित प्रज्ञाकर यति था। क्या तू हेतु-विद्या सीखना चाहता है, क्या तूने अभिधर्म कोष पढ़ा है?''

''नहीं आचार्य, मैं ज्ञानान्वेषी हूँ। मैं धर्म की शरण आया हूँ। मैं धर्मतत्त्व सीखना चाहता हूँ।''

''तो भद्र, तू तीसरे द्वार पर जा। इस द्वार से तेरा प्रवेश नहीं होगा।''

दिवोदास ने तब पच्छिम द्वार पर पहुँचकर घण्टघोष किया। पच्छिम द्वार का द्वारपण्डित ज्ञानश्री मित्र था। घण्टघोष सुनकर उसने कहा–''भद्र, क्या तू सांख्य और वेद पढ़ना चाहता है, क्या तूने निरुक्त और षडंग पाठ किया?''

दिवोदास ने कहा–''मैं ज्ञानान्वेषी हूँ, मैं धर्म की शरण आया हूँ, मैं धर्मतत्त्व सीखना चाहता हूँ।''

''तो भद्र, तू अन्य द्वार पर जा।''

तब दिवोदास उत्तर द्वार पर पहुँचा और घण्टघोष किया। वहाँ का द्वार पण्डित नरोपन्न था। उसने पूछा–''क्या चाहता है भद्र!''

''मैं ज्ञानान्वेषी हूँ। मैं धर्म की शरण आया हूँ। मैं धर्मतत्त्व सीखना चाहता हूँ।''

तब द्वारपण्डित ने पूछा–''क्या तू भिक्षु-पातिभिक्ख का पाठ करता है?''

''करता हूँ भन्ते।''

''क्या तू पूर्वकरण और उपोसथ कर्म करता है?''

''करता हूँ भन्ते।''

''तू अन्तरायिक कर्म नहीं करता है?''

'नहीं करता हूँ भन्ते।''

''तो भद्र, तू भीतर आ और प्रथम केन्द्रीय द्वारपण्डित रत्नवज्र की शरण में जा।''

दिवोदास ने विहार के भीतर प्रवेश किया। तब वह केन्द्रीय द्वारपण्डित रत्नवज्र के सम्मुख आ बद्धांजलि खड़ा हुआ।

रत्नवज्र कठोर और शुष्क प्रकृति के पुरुष थे। वज्रयान मन्त्र-तन्त्र और सिद्धियों के ज्ञाता प्रसिद्ध थे। रंग उनका काला और आकृति बेडौल थी। उन्होंने भाँति-भाँति के प्रश्न दिवोदास से पूछे। अनेक मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोनों से उसकी परीक्षा ली, और अन्त में उन्होंने उसे अन्तेवासी बना विहार का द्वार खोल दिया। दिवोदास विहार में प्रवेश पा गए। नियमानुसार उनके निवास आदि की व्यवस्था हो गई। यह एक असाधारण कठिनाई थी, जिस पर उन्होंने विजय पाई।

विहार

विक्रमशिला महाविहार की स्थापना पालवंशी राजा धर्मपाल ने नवीं शताब्दी में की थी। धर्मपाल बौद्ध धर्म का अनुयायी था। वह अपने को परम भट्टारक-परम परमेश्वर महाराजाधिराज कहता था। इस महाविहार में छै महाविद्यालय थे जिनमें से प्रत्येक का पृथक्-पृथक् द्वारपण्डित होता था। प्रत्येक महाविद्यालय में 100 आचार्य रहते थे। इस प्रकार विक्रमशिला महाविहार में कुल 648 आचार्य थे। जिनमें अनेक विश्वविश्रुत पण्डित थे। महाविद्यालय का सभा भवन इतना विशाल था कि उसमें 8 हज़ार भिक्षु एक साथ बैठ सकते थे।

विक्रमशिला में बौद्ध त्रिपिटक साहित्य के अतिरिक्त वेद-दर्शन तथा अन्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा तो होती ही थी, पर यह विहार वज्रयान का सबसे बड़ा केन्द्र समझा जाता था। यह युग तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोने का था। बौद्ध और पौराणिक दोनों धर्मों में तान्त्रिक महत्त्व बहुत था। इस युग में तन्त्रवाद का जो इतना बड़ा महत्त्व था, उसका श्रेय इसी महाविहार को था।

इस समय यहाँ के प्रधान कुलपति आचार्य वज्रसिद्धि थे, जो वज्रयान में प्रमाण माने जाते थे।

विक्रमशिला में शिक्षा पाए हुए विद्यार्थियों में भी अनेक प्रसिद्ध विद्वान् निकले। रत्नवज्र, रत्नकीर्ति, ज्ञानश्री मित्र, रत्नाकर शान्ति और दीपंकर अतिशा यहीं के छात्र थे। अतिशा को तिब्बत में बौद्धधर्म की पुन: स्थापना के लिए बुलाया गया था, उन्होंने वहाँ वह व्यवस्था और मर्यादा स्थापित की, जो अब तक लामाओं में चली आती है। रत्नकीर्ति अतिशा के गुरु थे। और ज्ञानश्री मित्र अतिशा के उत्तराधिकारी। जब अतिशा तिब्बत चले गए तब ज्ञानश्री मित्र विक्रमशिला विहार के प्रधान आचार्य बने थे। परन्तु इस समय उन्होंने आचार्य वज्रसिद्धि को महासंघ स्थविर धर्मनिष्ठाता बना दिया था और स्वयं गुप्तवास करते थे।

जिस समय हमारा उपन्यास आरम्भ होता है, बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध बीत रहा था। इस समय पालवंश का राजा गोविन्दपाल पूर्वी बिहार पर शासन कर रहा था। विक्रमशिला विहार के कुलपति आचार्य वज्रसिद्धि और नालन्दा के कुलपति सरहभद्र के उत्तराधिकारी महामति थे। सरहभद्र ने सहजयान सम्प्रदाय की स्थापना की थी। यह नया यान पूर्णतया वाममार्ग ही था और इसमें युग्म मूर्ति की पूजा होती थी। तथा किसी नीच जाति की सुन्दरी युवती की मुद्रा बनाकर साधना की जाती थी। यह नवीन धर्म समूचे पूर्वी

बिहार और बंगाल में तेजी से फैल रहा था। स्थान-स्थान पर गुह्य समाजों की स्थापना हो गई थी। विक्रमशिला विद्याकेन्द्र भी इससे अछूता न था। इसके अतिरिक्त काशी, नवद्वीप वल्लभी तथा धारानगरी तक इस सम्प्रदाय के केन्द्र स्थापित हो गए थे। हिन्दू धर्म पर भी इस वाममार्ग का प्रभाव पड़ चुका था।

इस समय वृन्दावन में निम्बार्काचार्य कृष्ण का रूप प्रतिपादन कर रहे थे–जो निरन्तर गोपियों से घिरा रहता था। तथा भाँति-भाँति की रासलीला का प्रचार बढ़ता जाता था जिसमें परकीया भावना ही मुख्य रहती थी। निम्बार्काचार्य यद्यपि सुदूर दक्षिण के निवासी थे, पर वृन्दावन में उन्होंने अपना अड्डा बनाया था। उत्तर भारत के बहुत-से नर-नारी उनके शिष्य बनते जा रहे थे।

शैवधर्म की जड़ तो छठी शताब्दी में ही काफी मजबूत हो चुकी थी। कालिदास, भवभूति, सुबन्ध और बाणभट्ट जैसे महाविद्या-दिग्गज शैव कहे जाते थे। भारत के बाहर कम्बोज आदि देशों में भी इस धर्म का बड़ा प्रचार था। इसके अतिरिक्त दक्षिण पूर्वी एशिया के क्षेत्र, बृहत्तर भारत के अनेक देश इस धर्म से प्रभावित हो चुके थे। जिस प्रकार बौद्धों में वज्रयान सम्प्रदाय पनपा था, उसी प्रकार शैवों में पाशुपत और कापालिक सम्प्रदायों का जोर था। वज्रयान के समान शैवधर्म के ये दोनों मार्ग भी सिद्धियों और मन्त्रशक्ति में विश्वास रखते थे तथा सिद्धिप्राप्ति के लिए अनेक, रहस्यमय और गुह्य अनुष्ठान करते थे। सातवीं शताब्दी में जब चीनी यात्री हुएनसांग भारत में आया था तब बिलोचिस्तान तक में पाशुपत सम्प्रदाय की सत्ता थी। काशी में उस समय माहेश्वर की सौ फुट ऊँची ताम्बे की ठोस मूर्ति थी। इस समय वाराणसी पाशुपत आम्नाय का केन्द्र बन रही थी। वहाँ इस समय सैकड़ों मन्दिर थे जिनमें पाशुपत धर्म की विधि से पूजा होती थी।

वज्रयानी की भाँति पाशुपत सम्प्रदाय वाले भी यह मानते थे कि साधक को जान-बूझकर भी वे सब काम करने चाहिए, जिन्हें लोग गर्हित समझते हैं। इसमें उनका यह तर्क होता था कि इससे साधक कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से ऊँचा उठ जाता था।

इन्हीं में कापालिक लोगों का एक दल था जो सिद्धि प्राप्त करने के लिए और भी उग्र और बीभत्स कार्य करता था। ये कापालिक चिताभस्म अंग पर लगाए, नर-मुण्डमाल गले में पहिने नर-कपाल में मदिरा पानकर मत्त बने निर्द्वन्द्व घूमते, जिसका जो चाहे उठा लेते, जिसे चाहे मार बैठते, इनकी कहीं कोई दाद-फरियाद न थी। प्राय: ये घोर दुराचारी होते थे। गृहस्थ इनके नाम से डरते थे। मारण-मोहन-उच्चाटन का ये पूरा ढोंग रचते थे और सदैव कुत्सित रूप में घूमा करते थे। गुह्य सिद्धियों के लिए ये श्मशान में रहते, मुर्दे की पीठ पर बैठकर मन्त्र जाप करते, और चिताग्नि पर टिक्कड़ सेंक खाते थे।

ऐसा ही उन दिनों शाक्त धर्म था, जिसका पूर्वी बंगाल और आसाम में पूरा जोर था। ये तन्त्र-मन्त्र और गुह्य सिद्धियों के नाम पर मद्य-माँस सेवन करते,नर-बलि तक देते और आदिशक्ति देवी की उपासना रक्त से करते थे। बलि का इनके विधान में प्राधान्य था। ये शाक्तिक जंजाल में लपेटकर वज्रयानियों की भाँति बड़े ही आडम्बर से अपने अनैतिक और कुत्सित कर्मों का प्रतिपादन करते थे।

भागवत धर्म, जिसकी उन्नति गुप्तों के राज्य में हुई थी, अब वैष्णव धर्म बन चुका था। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे परम प्रतापी गुप्त सम्राट् अपने को परम भागवत

कहते थे। वास्तव में उन्हीं के समय में बौद्धों का ह्रास होकर वैष्णव और शैवधर्म की प्रतिष्ठा हुई थी। गुप्तयुग के बाद तेरहवीं शताब्दी तक यह प्रतिक्रिया जारी रही। बौद्धधर्म का यद्यपि गुप्तकाल ही में ह्रास होना आरम्भ हो चुका था पर मध्ययुग में वही भारत का मुख्य धर्म था। कन्नौज का प्रतापी महान् हर्ष यद्यपि बौद्ध न था, पर बड़ा भारी बौद्धों का समर्थक था। उसके राज्यकाल में सातवीं शताब्दी में जो चीनी पर्यटक भिक्षु ह्वेनसांग भारत में आया था उसी ने साक्षी दी है कि उसके काल में ही बौद्धभिक्षु आलसी, प्रमादी और पतित हो चुके थे। और सर्वसाधारण के हृदयों में अब उनके लिए प्राचीन श्रद्धा न रह गई थी। न उनमें वह लोकहित सम्पादन की भावना रह गई थी, जिसके कारण वह देश-विदेश में प्रसारित हो गया था।

अब तो अलौकिक सिद्धियों और गुह्य उपासनाओं ही का बोलबाला था। इस युग में भी शंकर, रामानुज और कुमारिल भट्ट ने उन्हें जबर्दस्त टक्कर दी थी। वैष्णव धर्म आरम्भ में यतिधर्म था और शुंगकाल में ही वैष्णवों के मन्दिरों की स्थापना हो चुकी थी, पर मध्ययुग में वह सीधी-सादी भक्ति आडम्बर युक्त होने लगी। मन्दिर मूर्तियों में साज, श्रृंगार, नृत्य, गान का प्राधान्य बढ़ गया और अब मन्दिरों में स्थापित मूर्तियाँ केवल उपलक्षण व प्रतीक मात्र ही नहीं रह गई थीं, वे अब जाग्रत् देवता बन गई थीं। जिनको स्नान, भोग, साज, श्रृंगार, वस्त्र आदि के द्वारा सत्कृत करने की प्रथा बढ़ती जाती थी, और इस काल में, जैसा कि हम प्रथम कह चुके हैं, गोपियों के साथ रास-क्रीड़ा, और परिक्रिया विलास का एकदम वाममार्गी स्वरूप वैष्णव धर्म बन चुका था, जिसका नग्न-अश्लील वर्णन हम प्रसिद्ध गीत गोविन्द काव्य में पढ़ते हैं।

ऐसा ही यह धर्म का अन्धकारमय काल था। एक ओर ये धर्म केन्द्र अनाचारों के अड्डे बनते जा रहे थे-दूसरी ओर उनमें अथाह सम्पदा भरती जा रही थी। राजा-रईस-सेठ साहूकारों से लेकर सर्वसाधारण तक श्रद्धा, भय तथा अन्य कारणो से निरन्तर दान देते रहते थे। इससे मन्दिरों-मठों में सैकड़ों वर्ष की सम्पदा संचित हो गई थी। राज्य नष्ट होते थे, बदलते थे पर ये धर्मकेन्द्र स्थिर थे। इसलिए धर्मकेन्द्रों के मठाधीश और पुजारी महाधनवान् बन गए थे। प्रजा का धन हड़पने के वे निरन्तर षड्यन्त्र करते रहते थे। बहुधा राज्यों को भी उलट-पलट करने के षड्यन्त्र वे करते थे। अपने सहायक राज्य का प्रसार और विरोधी का पराभव करना इनके बायें हाथ का खेल था। इन धर्माचार्यों की यह क्षमता देख बहुत-से खटपटी राजा इनके हाथ की कठपुतली बन गए थे। वे इन्हें पूर्ण छूट देते थे, और राज्य के द्वारा लगाम ढीली होने पर ये सर्व-साधारण पर मनमाना अत्याचार करते थे। बहुधा वे जबर्दस्ती श्रीमन्तों के उत्तराधिकारियों को भिक्षु बना लेते जिससे उनकी सारी सम्पदा मठों को प्राप्त हो जाय।

बौद्ध विहारों में एक परम्परा आसमिकों की थी। ये आसमिक एक प्रकार से बौद्ध विहारों की प्रजा अथवा क्रीतदास ही थे। विहारों के दान प्राप्त ग्रामों में इन्हें माफी की जमीन मिलती थी। उसे ये जोतते-बोते तथा विहारों को कर देते थे। विहारों के मठाधीश इनके साथ क्रीतदासों की भाँति व्यवहार करते थे—उनसे मनमानी बेगार लेते, उनके तरुण पुत्रों और पुत्रियों को भिक्षु-भिक्षुणी और देवदासी बना लेते, जो उनके विलास और लिप्सा का भोग बनते थे। बहुधा ये आसमिक विद्रोह करते थे। इन्हें जबर्दस्ती दबाया जाता था।

उस समय इन पर रोमांचकारी अत्याचार किए जाते थे।

जहाँ छोटे-छोटे राजा-सामन्त परस्पर लड़ते और सारे देश के वातावरण को अशान्त और अराजक रखते थे—वहाँ देश-भर में यह धर्मान्धकार सारे समाज को अविद्या, अन्धविश्वास और अनाचार में धकेलता जा रहा था। ऐसा ही वह युग था। तब ईसा की बारहवीं शताब्दी बीत रही थी। उसी काल की घटना का वर्णन हम इस उपन्यास में कर रहे हैं।

सुखानन्द

सुखदास की स्त्री का नाम सुन्दरी था। वह यों तो भली स्त्री थी पर मिजाज की जरा चिड़चिड़ी थी। सुखदास घर-बार से बेपरवाह था। उसे अपने वेतन की भी चिन्ता न थी। वह नौकरी नहीं बजाता था, सेठ के घर को अपना घर समझता था।

जिस दिन कुमार दिवोदास की दीक्षा हुई, उससे एक दिन प्रथम सुखदास और उसकी पत्नी में खूब वाग्युद्ध हुआ था। वाग्युद्ध का मूल कारण यह था कि सुखदास ने तेईस वर्ष पूर्व सुन्दरी से उसके लिए एक जोड़ा नूपुर बनवा देने का वादा किया था। वे नूपुर उसने अभी तक बनवाकर नहीं दिए थे। तेईस वर्षों के इस अन्तर ने सुन्दरी को अधेड़ बना दिया था, प्राय: प्रतिदिन ही वह सुखदास से नूपुर का तकाजा करती थी और प्रतिदिन सुखदास उसे कल पर टाल देता था। इसी प्रकार कल करते-करते तेईस वर्ष बीत चुके थे। कल रात इस मामले ने बहुत गहरा रंग पकड़ा था। सुन्दरी को इसके लिए आँसू गिराने पड़े थे। और सुखदास ने प्रणबद्ध होकर वचन दिया था कि कल नूपुर नहीं बनवा दूँ तो घर-बार छोड़कर भिक्षु हो जाऊँगा। सुन्दरी को नूपुर पहनने की बड़ी अभिलाषा थी, वार्धक्य आने से भी वह कम नहीं हुई थी। उसने कहा "भिक्षु हो जाओगे तो सन्तोष कर लूँगी। पर यदि कल नूपुर न लाए तो देखना मैं कुएँ-तालाब में डूब मरूँगी।" सुखदास "अच्छा, समझ गया।" कहकर घर से बाहर चला गया था।

आज सुखदास को एक साहस करना पड़ा। दिवोदास का भिक्षु होना वह सहन न कर सका। बौद्धों के पाखण्ड से वह खूब परिचित था। उसने चुपचाप दिवोदास की सहायता करने के लिए भिक्षु वेश धारण कर लिया। दाढ़ी-मूँछों का सफाया कर लिया और पीत कफनी पहन ली। उसने चुपचाप संघाराम में दिवोदास के पास रहने की ठान ली थी।

सुन्दरी आज बहुत क्रोध में थी। उसने निश्चय किया था, आज जैसे भी हो वह नूपुर बिना मँगाये न रहेगी। जब देखो झूठा बहाना। बहाने ही बहाने में खाने-पहनने के दिन बीत गए। आज वह नहीं या मैं नहीं।

वह बड़बड़ाती हुई बाहरी कक्ष में आई। उसका इरादा कल के युद्ध को फिर से जारी करके पति को परास्त कर डालने का था। कक्ष में देखा—वहाँ सुखदास के स्थान पर कोई भिक्षु पीत कफनी पहिने बैठा है। सुखदास की भाँति सुन्दरी भी भिक्षुओं को एक आँख नहीं देख सकती थी। उसने भिक्षु को देखते ही आग बबूला होकर कहा :

"यह कौन मूड़ीकाटा बैठा है, अरे तू कौन है?"

"यह मैं हूँ प्रेमप्यारी जी, तुम्हारा दास सुखदास। पर अब तुम इसे भिक्षु सुखानन्द

कहना।''

सुन्दरी का कलेजा धक से रह गया। उसने घबड़ाकर कहा :

''क्या भाँग खा गए हो? मूछों का एकदम सफाया कर दिया?''

''तुम्हीं तो इन्हें कोसा करती थी? कहो अब यह मुँह कैसा लगता है?''

''आग लगे इस मुँह में, यह भिक्षु का बाना क्यों पहना है?''

''तुम्हीं ने तो कहा था कि साधु होकर घर से निकल जाओ, मैं सन्तोष कर लूँगी। लो अब जाता हूँ।''

सुखदास ने जाने का उपक्रम किया तो सुन्दरी ने बढ़कर उसके पीत वस्त्र का पल्ला पकड़ लिया। रोते-रोते कहा–''हाय-हाय, यह क्या करते हो, अरे ठहरो, कहाँ जाते हो?''

''जाता हूँ।''

''अरे मुझे भरी जवानी में छोड़ जाते हो निर्दयी।''

''अरे, वाह रे भरी जवानी! कब तक जवान रहेगी!''

''जाने दो, मैं नूपुर नहीं मागूँगी।''

''अब तुम नूपुर लेकर ही रहना। मुझसे तुम्हारा क्या वास्ता! मैं चला।''

''अरे लोगो, देखो। मैं लुट गई। नहीं, मैं नहीं जाने दूँगी।'' वह रोती हुई सुखदास से लिपट गई।

''तब क्यों कहा था?''

''वह तो झूठमूठ कहा था।''

''तो प्रेमप्यारी जी, मैं भी झूठमूठ का भिक्षु बना हूँ, कोई सचमुच थोड़े ही!''

''अरे, यह क्या बात है!''

''किसी से कहना नहीं, गुपचुप की बात है।''

''अरे, तो तुम झूठमूठ क्यों मूँड़ मुड़ा बैठे?''

''तब क्या करता, मालिक की अकिल तो पिलपिली हो गई है। जवान बेटे को बैठे-बिठाए मूँड़ मुड़ाकर घर से निकाल दिया। भिक्षु बड़े पाजी होते हैं। और वह सबका गुरु घंटाल पूरा भेड़िया है। उसके दाँत सेठ की दौलत पर हैं। भैया पर न जाने कैसी बीते; मेरा उनके साथ रहना बहुत जरूरी है, समझी प्रेम-प्यारी जी!''

''पर मेरी क्या गत होगी यह कभी सोचा, नूपुर नहीं थे तो क्या तुम तो थे। इसी से सन्तोष था, अब तो तुम भी दूर हो जाओगे। आज झूठमूठ के साधु बने हो, कल सचमुच के बनने में क्या देर लगेगी।''

''नहीं प्रेमप्यारी जी, कहीं ऐसा भी हो सकता है? तुम्हें छोड़कर भला सुखदास की गत कहाँ है। पर भैया की सेवा करना भी मेरा धर्म है। लो अब मैं जाता हूँ।''

''तो फिर मुझे क्या कहते हो?''

''बस, इस झमेले से बेबाक हुआ कि मुझे नूपुर बनवाने हैं।''

''भाड़ में जाए नूपुर! मेरे लिए तुम बने रहो।''

''मैं तो पक्का बना-बनाया हूँ, चिन्ता मत करो।''

''फिर कब आओगे?''

''रोज ही आएँगे, आने में क्या है! सभी भिक्षु भिक्षा के लिए आते हैं। हम यहीं

मिला करेंगे। अच्छा साध्वी, तेरा कल्याण हो, यह भिक्षु सुखानन्द चला।''

''हाय-हाय, निर्मोही न बनो!''

''सब झूठमूठ का धन्धा है। प्यारी, झूठमूठ का धन्धा!''

''पर तनिक तो ठहरो!''

''अब नहीं, देखूँ भैया को वहाँ कैसे रक्खा गया है।''

''तो जाओ फिर।''

''जाता हूँ।''

सुखदास धीरे-धीरे घर से बाहर चला गया। सुन्दरी आँखों में आँसू भरे एकटक देखती रही।

गुरु-शिष्य

आचार्य का रंग अत्यन्त काला था। डील-डौल के भी वे खूब लम्बे थे पर शरीर उनका कृश था। हड्डियों के ढाँचे पर चमड़ी का खोल मढ़ा था। गोल-गोल आँखें गढ़े में धँसी थीं। गालों पर उभरी हुई हड्डी एक विशेष भयानक आकृति बनाती थी। उनका लोकनाम शबर प्रसिद्ध था। वे भूत-प्रेत-वैतालों के स्वामी कहे जाते थे। मारण-मोहन-उच्चाटन तन्त्र-मन्त्र के वे रहस्यमय ज्ञाता थे। वे नीच कुलोत्पन्न थे। कोई कहता—वे जात के डोम हैं, कोई उन्हें धोबी बताता था। वे प्राय: अटपटी भाषा में बातें किया करते थे। लोग उनसे भय खाते थे। पर उन्हें परम सिद्ध समझकर उनकी पूजा भी करते थे। वज्रयान सम्प्रदाय के वे माने हुए आचार्य थे।

भिक्षु धर्मानुज को उन्हीं का अन्तेवासी बनाया गया। धर्मानुज को एक कोठरी रहने को, दो चीवर और दो सारिकाएँ दी गई थीं। एकान्त मनन करने के साथ ही वह आचार्य वज्रसिद्धि से वज्रयान के गूढ़ सिद्धान्त भी समझता था, परन्तु शीघ्र ही गुरु-शिष्य में खटपट हो गई। भिक्षु धर्मानुज एक सीधा, सदाचारी किन्तु दृढ़ चित्त का पुरुष था। वह तन्त्र-मन्त्र और उनके गूढ़ प्रभवों पर विश्वास नहीं करता था। अभिचार प्रयोगों से भी उसने विरक्ति प्रकट की। इसी से एक दिन गुरु-शिष्य में ठन गई।

गुरु ने कहा–सौम्य धर्मानुज, विश्वास से लाभ होता है। पर धर्मानुज ने कहा–"आचार्य, मैंने सुना था—ज्ञान से लाभ होता है।"

"परन्तु ज्ञान गुरु की भक्ति से प्राप्त होता है।"

"इसकी अपेक्षा सूक्ष्म विवेक-शक्ति अधिक सहायक है।"

"तू मूढ़ है आयुष्मान्।"

'इसी से मैं आपकी शरण में आया हूँ।"

"तो यह मन्त्र सिद्ध कर-किलि, किलि, घिरि, घिरि, हुर, हुर वैरोचन गर्भ संचित गस्थरियकस गर्भ महाकारुणिक, ओम् तारे ओम तुमतारेतुरे स्वाहा।"

"यह कैसा मन्त्र है आचार्य।"

"यह रत्नकूट सूत्र है। घोख इसे।"

"पर यह तो बुद्ध वाक्य नहीं है।"

"अरे मूढ़! यह गुरुवाक्य है।"

"पर इसका क्या अर्थ है आचार्य?"

"अर्थ से तुझे क्या प्रयोजन है, इसे सिद्ध कर।"

“सिद्ध करने से क्या होगा?”
“डाकिनी सिद्ध होगी। खेचर मुद्रा प्राप्त होगी।”
“आपको खेचर मुद्रा प्राप्त है आचार्य?”
“है।”
“तो मुझे कृपा कर दिखाइए।”
“अरे अभद्र, गुरु पर सन्देह करता है, तुझे सौ योनि तक विष्ठाकीट बनना पड़ेगा।”
“देखा जाएगा। पर मैं आपका खेचर मुद्रा देखना चाहता हूँ।”
“किसलिए देखना चाहता है?”
“इसलिए कि यह केवल ढोंग है। इसमें सत्य नहीं है।”
“सत्य किसमें है?”
“बुद्ध वाक्य में।”
“कौन से बुद्ध वाक्य रे मूढ़!”
“सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् विचार और सम्यक् ध्यान, ये आठ आर्ष सत्य है। जो भगवान् बुद्ध ने कहे हैं।”
“किन्तु, आचार्य तू की मैं?”
“आप ही आचार्य, भन्ते!”
“तो तू मुझे सिखाता है, या तू सीखता है?”
“मैं ही सीखता हूँ भन्ते!”
“तो जो मैं सिखाता हूँ सीख।”
“नहीं, जो कुछ भगवान् बुद्ध ने कहा, वही सिखाइए आचार्य।”
“तू कुतर्की है”
“मैं सत्यान्वेषी हूँ, आचार्य।”
“तू किसलिए प्रव्रजित हुआ है रे!”
“सत्य के पथ पर पवित्र जीवन की खोज में।”
“तू क्या देव-दुर्लभ सिद्धियाँ नहीं चाहता?”
“नहीं आचार्य?”
“क्यों नहीं?”
“क्योंकि वे सत्य नहीं हैं, पाखण्ड हैं।”
“तब सत्य क्या तेरा गृह-कर्म है?”
“गृह-कर्म भी एक सत्य है। इन सिद्धियों से तो वही अच्छा है।”
“क्या?”
“पति-प्राणा साध्वी पत्नी, रत्न-मणि-सा सुकुमार कुमार आनन्दहास्य और सुखपूर्ण गृहस्थ जीवन।”
“शान्तं पापं, शान्तं पापं!”
“पाप क्या हुआ भन्ते!”
“अरे, तू भिक्षु होकर अभी तक मन में भोग-वासनाओं को बनाए है?”

‘‘तो आचार्य, मैं अपनी इच्छा से तो भिक्षु बना नहीं, मेरे ऊपर बलात्कार हुआ है।’’

‘‘किसका बलात्कार रे पाखण्डी!’’

‘‘आप जिसे कर्म कहते हैं उस अकर्म का, आप जिसे पुण्य कहते हैं उस पाप कर्म का, आप जिसे सिद्धियाँ कहते हैं उस पाखण्ड कर्म का।’’

‘‘तू वंचक है, लण्ठ है, तू दण्डनीय है, तुझे मनःशुद्धि के लिए चार मास महातामस में रहना होगा।’’

‘‘मेरा मन शुद्ध है आचार्य।’’

‘‘मैं तेरा शास्ता हूँ, तुझसे अधिक मैं सत्य को जानता हूँ। क्या तू नहीं जानता, मैं त्रिकालदर्शी सिद्ध हूँ!’’

‘‘मैं विश्वास नहीं करता आचार्य।’’

‘‘तो चार मास महातामस में रह। वहाँ रहकर तेरी मनःशुद्धि होगी। तब तू सिद्धियाँ सीखने और मेरा शिष्य होने का अधिकारी होगा।’’

उन्होंने पुकारकर कहा–‘‘अरे किसी आसमिक को बुलाओ।’’

बहुत-से शिष्य-बटुक-भिक्षु इस विद्रोही भिक्षु का गुरु-शिष्य सम्वाद सुन रहे थे। उनमें से एक सामने से दौड़कर दो आसमिकों को बुला लाया।

आचार्य ने कहा–‘‘ले जाओ इस भ्रान्त मति को, चार मास के लिए महातामस में डाल दो, जिससे इसकी आत्मशुद्धि हो और सद्धर्म के मर्म को यह समझ सके।’’

आसमिक उसे ले चले।

महातामस

यह एक अँधेरा तहखाना था, जो भूगर्भ में बनाया गया था। एक प्रकार से विहार की यह काल कोठरी थी जहाँ दिन को भी कभी सूर्य के प्रकाश की एक किरण नहीं पहुँच पाती थी। वहाँ दिन-रात सूची-भेद्य अन्धकार रहता था। यहाँ अनेक छोटी-छोटी कोठरियाँ थीं। जिनमें अनेक ऐसे अभागे बन्द थे जो इन आचार्यों की स्वेच्छाचारिता में बाधा डालते या उनकी राह में रोड़े अटकाते थे। बहुत-से तो वहाँ से जीवित निकल नहीं पाते थे। जो निकल पाते थे, उनमें अनेक पागल हो जाते या असाध्य रोगों के शिकार बन जाते थे। कोठरियों में अन्धकार ही नहीं, सील भी बहुत रहती थी। ये काल-कोठरियाँ भूगर्भ में नदी के साथ सटी हुई थीं। बहुत-से जीवित तथा मृत अभागे बन्दी यहीं से जल-प्रवाह में फेंक दिए जाते थे।

भिक्षु धर्मानुज को एक कोठरी में धकेलकर आसमिक ने द्वार पर ताला जड़ दिया। बड़ी देर तक तो उसे कुछ सूझा ही नहीं। फिर धीरे-धीरे उसकी आँखें अन्धकार को सहन कर गईं। उसने देखा–कोठरी अत्यन्त गन्दी, सील-भरी और दुर्गन्धित है। उनमें अनेक कीड़े रेंग रहे हैं। जो उसके शरीर को छू जाने लगे पर धर्मानुज ने धैर्यपूर्वक अपने को इस विपत्ति के सहने के योग्य बना लिया। वह कोठरी के एक कोने में पड़े काष्ठ फलक पर जाकर बैठ गया और अपने भूत-भविष्य का विचार करने लगा। कभी तो वह अपने राजसी ठाट-बाट से युक्त घर के जीवन को याद करता और कभी इन वज्रयानियों के पाखण्डों की कल्पना करता। अब तक उसने बहुत-सी बातें केवल सुनी ही थीं। पर अब तो वह प्रत्यक्ष ही देख रहा था। वह जानता था कि उसे बिना ही अपराध के ऐसा भयानक दण्ड दिया गया है। उसके पिता की सम्पत्ति हरण करने का यह सारा आयोजन है—यह वह जानता था। अब उसे सन्देह होने लगा कि वे लोग उसे जान से मारकर अपनी राह का कंटक दूर करना चाहते हैं, न जाने ऐसे कितने कंटक वे नित्य दूर करते हैं। बौद्ध सिद्धों की यह कुत्सित हिंसक वृत्ति देख वह आतंक से काँप उठा।

सुखानन्द का आगमन

प्रात:काल का समय था। विहार का सिद्धिद्वार अभी खुला ही था। इस द्वार से नागरिक श्रद्धालु जन, श्रावक और बाहरी भिक्षु विहार के बहिरन्तरायण में आ-जा सकते थे, किन्तु विहार के भीतर नहीं प्रविष्ट हो सकते थे। इस समय बहुत-से गृहस्थ नागरिक देवी वज्रतारा के दर्शनों को आ-जा रहे थे। भिक्षु गण इधर-उधर घूम रहे थे। कोई सूत्र घोख रहा था। कोई चीवर धो रहा था। कोई स्नान-शुद्धि में लगा था। सुखदास भिक्षु वेश में धम्मपद गुनगुनाता दिवोदास की खोज में इधर-उधर घूम रहा था। दिवोदास का कहीं पता नहीं लग रहा था।

एक भिक्षु ने उसे टोककर कहा–"मूर्ख, विहार में गाता है? नहीं जानता, गाना विलास है, भिक्षु को मन्त्र-पाठ करना चाहिए।"

सुखदास ने आँखें कपार पर चढ़ाकर कहा–"मुझे मूर्ख कहने वाला ही मूर्ख है। अरे, मैं त्रिगुण सूत्र का पाठ कर रहा हूँ, जानता है?"

"त्रिगुण सूत्र?"

"हाँ-हाँ, पर वह कण्ठ से उतरता नहीं है। जानते हो त्रिगुण सूत्र?"

"नहीं जानता भदन्त, तुम कौन यान में हो?"

"बात मत करो, सूत्र भूला जा रहा है।" सुखदास गुनगुनाता फिर एक ओर को चल दिया। कुछ दूर जाकर उसने आप ही आप भुनभुनाते हुए कहा–"वाह, क्या-क्या सफाचट खोपड़ियाँ यहाँ जमा हैं, जी चाहता है दिन-भर इन्हें चपतियाता रहूँ। पर अपने राम को कुमार को टटोलना है। पता नहीं इस समुद्र से कैसे वह मोती ढूँढ़ा जाएगा। वह एक बूढ़ा भिक्षु जा रहा है, पुराना पापी दीख पड़ता है। इसी से पूछूँ।" सुखदास ने आगे बढ़कर कहा–"भदन्त, नमो बुद्धाय।"

"नमो बुद्धाय।"

"भदन्त, कह सकते हो, भिक्षु धर्मानुज कहाँ है?"

"तुम मूर्ख प्रतीत होते हो। नहीं जानते वह महातामस में आचार्य की आज्ञा से प्रायश्चित्त कर रहा है!"

"यह महातामस कहाँ है भदन्त?"

"शान्तं पापं, अरे, महातामस में तुम जाओगे? जानते हो वहाँ जो जाता है उसका सिर कटकर गिर पड़ता है। वहाँ चौंसठ सहस्र डाकिनियों का पहरा है।"

"ओहो हो, तो भदन्त, किस अपराध में भिक्षु धर्मानुज को महातामस दिया गया है?"

इतने में दो-तीन भिक्षु वहाँ और आ गए। उन्होंने सुखदास की अन्तिम बात सुन ली। सुनकर वे बोल उठे–''मत कहो, मत कहो, कहने से पाप लगेगा।''

उसी समय आचार्य भी उधर आ निकले। आचार्य ने कहा :

''तुम लोग यहाँ क्या गोष्ठी कर रहे हो?''

''आचार्य, यह भिक्खु कहता है...।''

''क्या?''

''समझ गया, तुम लोगों ने महानिर्वाण सुत्त घोखा नहीं।''

''आचार्य, यह भिक्खु पूछता है...।''

''क्या?''

''पाप, पाप, भारी पाप।''

''अरे कुछ कहोगे भी या यों ही पाप-पाप?''

''कैसे कहें, पाप लगेगा आचार्य।''

''कहो, मैंने पवित्र वचनों से तुम्हें पापमुक्त किया।''

''तब सुनिये, वह जो नया भिक्षु दिवोदास...।''

''धर्मानुज कहो। वह तो महातामस में है?''

''जी हाँ।''

''महातामस में, वह चार मास में दोषमुक्त होगा।''

''किन्तु यह भिक्खु कहता है कि मैं वहाँ जाऊँगा।''

''क्यों रे?'' आचार्य ने आँखें निकालकर सुखदास की ओर देखा।

सुखदास ने बद्धांजलि होकर कहा–''किन्तु आचार्य, भिक्षु धर्मानुज ने क्या अपराध किया?''

''अपराध? अरे तू उसे केवल अपराध ही कहता है।''

''आचार्य, मेरा अभिप्राय पाप से है।''

''महापाप किया है उसने, उसका मन भोग-वासना में लिप्त है, वह कहता है, उस पर बलात्कार हुआ है। मन की शुद्धि के लिए संघ स्थविर ने उसे चार मास के महातामस का आदेश दिया है।''

''कैसी मन की शुद्धि आचार्य?''

''अरे! तू कैसा भिक्षु है विहार के साधारण धर्म को भी नहीं जानता?''

''किन्तु इसी बात में इतना दोष?''

''बुद्धं शरणं। तू निरा मूर्ख है। तुझे भी प्रायश्चित्त करना होगा?''

''क्या गरम सीसा पीना होगा?''

''ठीक नहीं कह सकता, विधान पिटक में तेरे लिए दस हजार प्रायश्चित्त हैं।''

''बाप रे, दस हजार?''

''जाता हूँ, अभी मुझे सूत्रपाठ करना है। देखता हूँ विहार अनाचार का केन्द्र बनता जा रहा है।''

आचार्य बड़बड़ाते एक ओर चल दिए। सुखदास मुँह बाए खड़ा रह गया।

वज्रतारा का मन्दिर

वज्रतारादेवी के मन्दिर के भीतरी आलिन्द में महासंघस्थविर वज्रसिद्धि कुशासन पर बैठे थे। सम्मुख वज्रतारा की स्वर्ण-प्रतिमा थी। प्रतिमा पूरे कद की थी। उसके सिर पर रत्न-जड़ित मुकुट था। हाथ में हीरक दण्ड था। मूर्ति सोने के अठपहलू सिंहासन पर पद्मासन से बैठी थी। मूर्ति के पीछे पाँच कोण का यन्त्र था। जिस पर नामाचार के अंक अंकित थे। मूर्ति सर्वथा दिगम्बर थी।

वज्रसिद्धि के आगे विधान की पुस्तक खुली पड़ी थी। वे उसमें से मन्त्र पढ़ते जाते तथा पूजा-विधि बोलते जाते थे। बारह भिक्षु, भिन्न-भिन्न पात्र हाथ में लिए पूजा-विधि सम्पन्न कर रहे थे। बहुत-से नागरिक भक्ति भाव से करबद्ध पीछे बैठे थे। मन्दिर का घण्टा निरन्तर बज रहा था। आचार्य पूजा-विधि तो कर रहे थे परन्तु उनका मन वहाँ नहीं था। वे बीच-बीच में व्यग्र भाव से इधर-उधर देख लेते थे।

इसी समय महानन्द ने मन्दिर में प्रवेश किया। वह चौकन्ना हो इधर-उधर देखता हुआ, धीरे-धीरे भीतर की ओर अग्रसर हुआ। और संघस्थविर के पीछे वाली खिड़की में जा खड़ा हुआ। किसी का ध्यान उधर नहीं गया। परन्तु वज्रसिद्धि को उसका आभास मिल गया। फिर भी उन्होंने आँख फेरकर उधर देखा नहीं। हाँ, कुछ सन्तोष की भावना उनके चित्त में अवश्य उत्पन्न हो गई।

महानन्द ने देखा–पूजा में सब सफेद फूल काम में लाये जा रहे हैं। उसने अवसर पा एक लाल फूल वज्रसिद्धि के आगे फेंक दिया। महानन्द की ओर किसी की दृष्टि न थी। उसके इस काम को भी किसी ने नहीं देखा। ऐसी ही उसकी मान्यता भी थी। परन्तु वास्तव में एक पुरुष की आँखों से वह ओझल नहीं हो सका। और वह था सुखदास।

सुखदास ने उसकी चाल और रंग-ढंग देखकर ही पहचान लिया था कि वह कोई रहस्यपूर्ण पुरुष है, इस प्रकार अपने को छिपाकर तथा चौकन्ने होकर चलने का दूसरा कारण हो भी क्या सकता था! अत: सुखदास ने छिपकर उसका पीछा किया। और अब यहाँ खम्भे की ओट में खड़ा हो उसकी गतिविधि देखने लगा।

लाल फूल देखते ही आचार्य चौंक उठे। मन्त्रपाठ के स्थान पर उनके मुँह से निकल पड़ा–"अरे! यह तो युद्ध का संकेत है!" उन्होंने नजर बचाकर एक बार महानन्द की ओर देखा। एक कुटिल हास्य उनके ओठों पर खेल गया। उसने फूल के चार टुकड़े कर उत्तर दिशा में फेंक दिए। उनके हिलते हुए ओठों से लोगों ने समझा, यह भी पूजाविधि ही होगी।

थोड़ी ही देर में एक भिक्षु कुछ वस्तु उठाने के बहाने उनके कान के पास झुक गया। आचार्य ने उसके कान में कहा–''देख एक आदमी उत्तर तोरण के चतुर्थ द्वार पर खड़ा है। उसे गुप्त राह से पीछे वाली गुफा में ले जा।''

भिक्षु नमन करके चला गया। संघस्थविर ने आचार्य बुद्धगुप्त को संकेत से पास बुलाकर कहा–''तुम यहाँ पूजा विधि सम्पन्न करो। मैं अभी जाकर जाप में बैठता हूँ। देखना मेरे जाप में विघ्न न हो।''

बुद्धगुप्त ने सहमति संकेत किया। संघस्थविर उठकर एक ओर चल दिए। बुद्धगुप्त आसन पर बैठकर पूजन विधि सम्पन्न करने लगे।

लोगों ने ससम्भ्रम आचार्यपाद को मार्ग दिया। वे भूमि में झुक गए। आचार्य ने मुस्कराकर, सबको दोनों हाथ उठाकर, कल्याण-कल्याण का आशीर्वाद दिया।

जिस भिक्षु को आचार्य ने महानन्द को ले आने का आदेश दिया था—उसका सुखदास ने पीछा किया। जब वह महानन्द को गुप्त राह से ले चला तो सुखानन्द अत्यन्त सावधानी से उनके पीछे ही पीछे चला। अन्त में वे एक छोटे-से द्वार को पार कर एक अन्धेरे अलिन्द में जा पहुँचे। वहाँ घृत के दीपक जल रहे थे। द्वार को पीछे से बन्द करने की सावधानी नहीं की गई, इससे सुखदास को अनुगमन करने में बाधा नहीं हुई।

वज्रसिद्धि ने आते ही कहा–''क्या समाचार है, महानन्द! तुमने तो बड़ी प्रतीक्षा कराई।''

''आचार्य, मैंने एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोया।''

''तो समाचार कहो।''

''काशिराज के दरबार में हमारी चाल चल गई।'' उसने आँख से संकेत करके कहा।

''तो तुम सीधे वाराणसी से ही आ रहे हो।''

''महाराज काशिराज जो यज्ञ कर रहे हैं, उसमें आपको निमन्त्रित करने दूत आ रहा है।''

''वह तो है, परन्तु महाराज ने भी कुछ कहा?''

''जी हाँ, महाराज ने कहा है कि वे आचार्य की कृपा पर निर्भर है।''

वज्रसिद्धि हँस पड़े। हँसकर बोले–''समझा, समझा, अरे दया तो हमारा धर्म ही है, परन्तु धूत पापेश्वर का वह पाखण्डी पुजारी–?''

"सिद्धेश्वर?–वह आचार्यपाद से विमुख नहीं है।''

''तब आसानी से काशिराज का नाश किया जा सकता है। और इन ब्राह्मण के मन्दिर को भी लूटा जा सकता है। जानते हो कितनी सम्पदा है उस मन्दिर में? अरे, शत-शत वर्ष की संचित सम्पदा है।''

''तो प्रभु, सिद्धेश्वर महाप्रभु आपसे बाहर नहीं हैं।''

''तो वाराणसी पर सद्धर्मियों का अधिकार करने का जो मैं स्वप्न देख रहा हूँ वह अब पूर्ण होगा? इधर श्रेष्ठि धनंजय के पुत्र दिवोदास के भिक्षु हो जाने से सेठ की अटूट सम्पदा हमारे हाथ में आई समझो। इतने से तो हमें पचास हजार सैन्य दल और शस्त्र जुटाना सहज हो जाएगा?''

''अरे, तो क्या सेठ के पुत्र ने दीक्षा ले ली?''

“नहीं तो क्या?”

“किन्तु आचार्य, वह धोखा दे सकता है, मैं भली भाँति जानता हूँ, उसे सद्धर्म पर तनिक भी श्रद्धा नहीं है!”

“यह क्या मैं नहीं जानता? इसी से मैंने उसे चार मास के लिए महातामस में डाल दिया है। तब तक तो काशिराज और उदन्तपुरी के महाराज ही न रहेंगे।”

“परन्तु आचार्य, सेठ यह सुनेगा तो वह महाराज को अवश्य उभारेगा। यह ठीक नहीं हुआ।”

“बहुत ठीक हुआ।”

इसी समय एक भिक्षु ने आकर बद्धांजलि हो आचार्य से कहा–“प्रभु, काशिराज के मन्त्री श्री चरणों के दर्शन की प्रार्थना करते हैं।”

वज्रसिद्धि ने प्रसन्न मुद्रा से महानन्द की ओर देखते हुए कहा–“भद्र महानन्द, तुम महामन्त्री को आदरपूर्वक तीसरे अलिन्द में बैठाओ। और कहो कि आचार्य पाद त्रिपिटक सूत्र का पाठ कर रहे हैं, निवृत्त होते ही दर्शन देंगे।”

महानन्द “जो आज्ञा आचार्य” कहकर चला गया।

वज्रसिद्धि प्रसन्न मुद्रा से कक्ष में टहलते हुए आप ही आप कहने लगा, “बहुत अच्छा हुआ, सब कुछ आप ही आप ठीक होता जा रहा है। यदि काशिराज लिच्छविराज से सन्धि कर ले और सद्धर्मी हो जाय तथा धूत पापेश्वर की सब सम्पत्ति संघ को मिल जाय तो ठीक है, नहीं तो इसका सर्वनाश हो। यदि मेरी अभिलाषा पूर्ण हो जाय तो फिर एक बार सम्पूर्ण उत्तराखण्ड में वज्रयान का साम्राज्य हो जाय।”

टेढ़ी चाल

काशी के महामात्य का नाम शिवशर्मा था। वे एक वृद्ध विद्वान् शैव ब्राह्मण थे। राजनीति और धर्मनीति में बड़े पण्डित थे। काशी राजवंश तक की इन्होंने अपनी विलक्षण बुद्धि तथा नीति से बहुत बार रक्षा की थी। इनका वैभव भी राजा से कम न था। वह समय ही ऐसा था। राजा और मन्त्री का गुट, क्षत्रिय और ब्राह्मण का गुट था। ये ब्राह्मण ही इन राजाओं की सत्ता को अखण्ड बनाए रखते थे। वे राजा को ईश्वर का आंशिक अवतार बताते और उनकी सभी उचित-अनुचित आज्ञा को ईश्वरीय विधान के समान सिर झुकाकर मानना सब प्रजा का धर्म बताते थे। इसके बदले इन्हें पुरोहिताई तथा मन्त्री के अधिकार प्राप्त हुए थे। राजा लोग इन ब्राह्मण मन्त्रियों पर अपने भाई-बन्धु से भी अधिक विश्वास रखते थे। इनका वैभव, महल, ऊपरी ठाट-बाट राजा से किसी अंश में कम न होता था। ये ही मन्त्री राजा की धर्मनीति और राजनीति के संचालक थे।

काशी के महामात्य आचार्य के लिए बहुत-सी भेंट-सामग्री साथ लाए थे। उसे देखकर वज्रसिद्धि ने प्रसन्न मुद्रा से कहा :

''अमात्यवर, काशीराज कुशल से तो हैं?''

''आचार्य के अनुग्रह से कुशल है।''

''मैं नित्य देवी वज्रतारा से उनकी मंगल कामना करता हूँ। हाँ, महाराज यज्ञ कर रहे हैं?''

''उसी में पधारने के लिए मैं आपको आमन्त्रित करने आया हूँ। महाराज ने सांजलि प्रार्थना की है कि आचार्य भिक्षुसंघ सहित पधारें।''

''परन्तु महामात्य, यज्ञ में पशुवध होगा, गवालम्भन होगा, यह सब तो सद्धर्म के विपरीत है।''

''आचार्य, प्रत्येक धर्म की एक परिपाटी है। उसकी आलोचना से क्या लाभ? काशिराज आप पर श्रद्धा रखते हैं, इसी से उन्होंने आपको समरण किया है। फिर परस्पर धार्मिक सहिष्णुता तो उसी प्रकार बढ़ सकती है।''

''यह तो ठीक है, परन्तु काशिराज तो कभी इधर आए ही नहीं।''

''तो क्या हुआ, मैं उनका प्रतिनिधि देवी वज्रतारा का प्रसाद लेने आया हूँ।''

''साधु-साधु, मन्त्रिवर, देवी वज्रतारा का प्रसाद लो'', आचार्य ने व्यग्र भाव से इधर-उधर देखा। महानन्द अभिप्राय समझ बद्धांजलि पास आया।

आचार्य ने कहा–''भद्र महानन्द! अमात्यराज को देवी का प्रसाद दो।''

महानन्द ने "जो आज्ञा" कह, एक भिक्षु को संकेत किया। भिक्षु ने प्रसाद मन्त्री को अर्पित किया।

प्रसाद लेकर मन्त्री ने कहा–"अनुगृहीत हुआ आचार्य।"

"मन्त्रिवर, आपकी सद्धर्म में ऐसी ही श्रद्धा बनी रहे।"

"आचार्य काशिराज आप ही के अनुग्रह पर निर्भर हैं।"

"तो अमात्यराज, मैं उनकी कल्याण कामना से बाहर नहीं हूँ।"

"ऐसी ही हमारी भावना है, क्या मैं कुछ निवेदन करूँ?"

"क्यों नहीं?"

"क्या लिच्छविराज काशी पर अभियान करना चाहते हैं?"

"ऐसा क्यों कहते हैं मन्त्रिवर?"

"मुझे विश्वस्त सूत्र से पता लगा है।"

"तो उस राजनीति को मैं क्या जानूँ?"

"लिच्छविराज तो आपके अनुगत हैं आचार्य!"

"मन्त्रिवर, मैं केवल अपने संघ का आचार्य हूँ, लिच्छविराज का मन्त्री नहीं।"

"परन्तु आचार्य, वे आपकी बात नहीं टालेंगे।"

"क्या आप यह चाहते हैं कि मैं लिच्छविराज से काशिराज के लिए अनुरोध करूँ?"

"मैं नहीं आचार्य, काशिराज का यह अनुरोध है।"

"क्या काशिराज ने ऐसा कोई लेख आपके द्वारा भेजा है?"

"यह है आचार्य।"

लेख पढ़कर कुछ देर बाद वज्रसिद्धि ने गम्भीर मुद्रा से कहा :

"तो मैं काशिराज का अतिथि बनूँगा।"

"काशिराज अनुगृहीत होंगे आचार्य..."

"मैं यज्ञ में आऊँगा।"

"अनुग्रह हुआ आचार्य।"

"तो महामात्य, एक बात है, लिच्छविराज का आक्रमण रोक दिया जायेगा, पर लिच्छविराज का अनुरोध काशिराज को मानना पड़ेगा।"

"वह क्या?"

"यह मैं अभी कैसे कहूँ?"

"तब?"

"क्या काशिराज मुझ पर निर्भर नहीं है?"

"क्यों नहीं आचार्य?"

"तब उनकी कल्याण-कामना से मैं जैसा ठीक समझूँगा करूँगा?"

"ऐसा ही सही आचार्य, काशिराज तो आपके शरण हैं।"

"काशिराज का कल्याण हो।"

मन्त्री ने अभिवादन किया और चले गए। आचार्य वज्रसिद्धि बड़ी देर तक कुछ सोचते रहे। इससे सन्देह नहीं कि सुखदास ने यह सब बातें अक्षरशः सुन लीं।

गूढ़ योजना

मन्त्री के जाते ही महानन्द ने सम्मुख आकर कहा :
“अब आचार्य की मुझे क्या आज्ञा है?”
“वाराणसी चलना होगा भद्र, साथ कौन जायेगा?”
“क्यों, मैं?”
“नहीं, तुम्हें मेरा सन्देश लेकर अभी लिच्छविराज के पास जाना होगा।”
“तब?”
“धर्मानुज, और ग्यारह भिक्षु और, कुल बारह।”
“धर्मानुज क्यों?”
“उसमें कारण है, उसे मैं यहाँ अकेला नहीं छोड़ूँगा। सम्भव है यज्ञ ही युद्धक्षेत्र हो जाय।’
“यह भी ठीक है, परन्तु उसका प्रायश्चित्त।”
“उसे मैं अपने पवित्र वचनों से अभी दोषमुक्त कर दूँगा।”
महानन्द ने हँसकर कहा–“आप सर्वशक्तिमान् पुरुष हैं।”
वज्रसिद्धि भी हँस दिए। उन्होंने कहा–“ग्यारह शिष्य छाँटो, मैं धर्मानुज को देखता हूँ।”
“जैसी आचार्य की आज्ञा।”
अँधेरे और गन्दे तलगृह में धर्मानुज काष्ठफलक पर बैठा कुछ सोच रहा था। वह सोच रहा था–“जीवन के प्रभात में महल-अटारी, सुख-साज त्याग कर क्या पाया? यह गन्दी, घृणित और अँधेरी कोठरी? बाहर कैसा सुन्दर संसार है, धूप खिल रही है। मन्द पवन के झोंके चल रहे हैं। पत्ती भाँति-भाँति के गीत गा रहे हैं। परन्तु धर्म के लिए इन सबको त्यागना पड़ता है। यह धर्म क्या वस्तु है? यहाँ जो कुछ है-यदि यही धर्म है, तब तो वह मनुष्य का कट्टर शत्रु दीख पड़ता है।”
इसी समय सुखदास ने वहाँ पहुँचकर झरोखे से झाँककर देखा। भीतर अँधेरे में वह सब कुछ देख न सका। परन्तु उसे दिवोदास के उद्गार कुछ सुनाई दिए। उसका हृदय क्रोध और दु:ख से भर गया।
उसने बाहर से खटका किया।
धर्मानुज ने खिड़की की ओर मुँह करके कहा–“कौन है भाई?”
“भैयाजी, क्या हाल है? अभी आत्मा पवित्र हुई या नहीं?”

"धीरे-धीरे हो रही है, किन्तु तुम कौन हो?"
"मैं...मैं! सुखदास?"
"पितृव्य? अरे, तुम यहाँ कहाँ?"
"चुप! मैं सुखानन्द भिक्षु हूँ, तुम्हारी कल्याण कामना से यहाँ आया हूँ।"
"उसके लिए तो संघस्थविर ही यथेष्ट थे, इस अन्ध नरक में मेरी यथेष्ट कल्याण कामना हो रही है।"
"आज इस नरक से तुम्हारा उद्धार होगा, आशीर्वाद देता हूँ।"
"किन्तु अभी तो प्रायश्चित्त की अवधि भी पूरी नहीं हुई है।"
"तो इससे क्या? भिक्षु सुखानन्द का आशीर्वाद है यह?"
"पहेली मत बुझाओ यहाँ, बात जो है वह कहो।"
"तो सुनो, संघस्थविर जा रहे हैं काशी, उनके साथ 12 भिक्षु जाएँगे। उनमें तुम्हें भी चुना गया है।"
"काशी क्यों जा रहे हैं आचार्य?"
"समझ सकोगे? काशिराज और अपने महाराज का सर्वनाश करने का षड्यन्त्र रचने।"
सर्वत्यागी भिक्षुओं को इससे क्या मतलब?"
"महासंघस्थविर वज्रसिद्धि त्यागी भिक्षु नहीं हैं। वे राज मुकुटों के मिटाने और बनाने वाले हैं।"
"फिर यह धर्म का ढोंग क्यों?'
"यही उनका हथियार है, इसी से उनकी विजय होती है।"
"और पवित्र धर्म का विस्तार!"
"वह सब पाखण्ड है।"
"तुम यहाँ क्यों आए पितृव्य?"
"तब कहाँ जाता? जहाँ बछड़ा वहाँ गाय।"
"समय क्या है? इस अन्धकार में तो दिन-रात का पता ही नहीं चलता।"
"पूर्व दिशा में लाली आ गई है, सूर्योदय होने ही वाला है। संघस्थविर आ रहे हैं। मैं चलता हूँ।"
"संघस्थविर इस समय क्यों आ रहे हैं?"
"तुम्हें पाप-मुक्त करने, आज का मनोरम सूर्योदय तुम देख सकोगे—यह भिक्षु सुखानन्द का आशीर्वाद है।"
सुखानन्द का मुँह खिड़की पर से लुप्त हो गया। इसी समय एक चीत्कार के साथ भूगर्भ का मुख्य द्वार खुला। आचार्य वज्रसिद्धि ने भीतर प्रवेश किया। उनके पीछे नंगी तलवार हाथ में लिए महानन्द था। आचार्य ने कहा :
"वत्स धर्मानुज, क्या तुम जाग रहे हो?"
"हाँ आचार्य, अभिवादन करता हूँ।"
"तुम्हारा कल्याण हो, धर्म में तुम्हारी सद्गति रहे। आओ, मैं तुम्हें पापमुक्त करूँ।"
उन्होंने मन्त्र पाठकर पवित्र जल उसके मस्तक पर छिड़का, और कहा–"तुम पाप

मुक्त हो गए, अब बाहर जाओ।''

"यह क्या आचार्य, अभी तो प्रायश्चित्त काल पूरा भी नहीं हुआ?''

"मैंने तुम्हें पवित्र वचन से शुद्ध कर दिया। प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं रही।''

"नहीं आचार्य, मैं पूरा प्रायश्चित्त करूँगा।''

"वत्स, तुम्हें मेरी आज्ञा का पालन करना चाहिए।''

"आपकी आज्ञा से धर्म की आज्ञा बढ़कर है।''

"हमीं धर्म को बनाने वाले हैं धर्मानुज, हमारी आज्ञा ही सबसे बढ़कर है।''

"आचार्य, मैंने बड़ा पातक किया है।''

"कौन-सा पातक वत्स?''

"मैंने सुन्दर संसार को त्याग दिया, यौवन का तिरस्कार किया, ऐश्वर्य को ठोकर मारी, उस सौभाग्य को कुचल दिया जो लाखों मनुष्यों में एक पुरुष को मिलता है।''

"शान्तं पापं। यह अधर्म नहीं धर्म किया। तथागत ने भी यही किया था पुत्र।''

"उनके हृदय में त्याग था। वे महापुरुष थे। किन्तु मैं तो एक साधारण जन हूँ। मैं त्यागी नहीं हूँ।''

"संयम और अभ्यास से तुम वैसे बन जाओगे।''

"यह बलात् संयम तो बलात् व्यभिचार से भी अधिक भयानक है!''

"यह तुम्हारे विकृत मस्तिष्क का प्रभाव है, वत्स!''

"आपके इन धर्म सूत्रों में, इन विधानों में, इस पूजा-पाठ के पाखण्ड में, इन आडम्बरों में मुझे तो कहीं भी संयम-शान्ति नहीं दीखती और न धर्म दीखता है। धर्म का एक कण भी नहीं दीखता।''

"पुत्र, सद्धर्म से विद्रोह मत करो, बुरा मत कहो।''

"आचार्य, आप यदि जीवन को स्वाभाविक गति नहीं दे सकते तो संसार को सद्धर्म का सन्देश कैसे दे सकते हैं?''

"पुत्र, अभी तुम इन सब धर्म की जटिल बातों को न समझ सकोगे। मेरी आज्ञा का पालन करो। इस महातामस से बाहर आओ। और स्नान कर पवित्र हो देवी वज्रतारा का पूजन करो, तुम्हें मैंने अपने बारह प्रधान शिष्यों का प्रमुख बनाया है। हम वाराणसी चल रहे हैं।''

आचार्य ने उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की। वे बाहर निकले। सम्मुख होकर सुखानन्द ने साष्टांग दण्डवत् किया।

आचार्य ने कहा–"अरे भिक्षु!'' जा उस धर्मानुज को महा अन्ध तामस के बाहर कर, उसे स्नान करा, शुद्ध वस्त्र दे और देवी के मन्दिर में ले आ।''

सुखदास ने मन की हँसी रोककर कहा–"जो आज्ञा आचार्य।''

उसने तामस में प्रविष्ट होकर कहा–"भैया, जो कुछ करना-धरना हो पीछे करना। अभी इस नरक से बाहर निकलो। और इन पाखण्डियों के भण्डाफोड़ की व्यवस्था करो।''

दिवोदास ने और विरोध नहीं किया। वह सुखदास की बाँह का सहारा ले धीरे-धीरे महातामस से बाहर आया। एक बार फिर सुन्दर संसार से उसका सम्पर्क स्थापित हुआ।

वाराणसी

वाराणसी शैवधर्म का पुरातन मूलस्थान है। यहाँ धूत पापेश्वर का मन्दिर बड़ा विशाल था। उसका स्वर्ण कलश गगनचुम्बी था। सम्पूर्ण मन्दिर श्वेत मर्मर का बना था। मन्दिर में बहुत पार्षद, पुजारी, देवदासी और वेदपाठी ब्राह्मण रहते थे। सौ फुट ऊँची शिवमूर्ति ताण्डव मुद्रा में थी। वह ठोस ताम्बे की थी। विशाल नन्दी की मूर्ति काले कसौटी के पत्थर की थी। पाशुपति आम्नाय में मन्दिर का माहात्म्य अधिक था, वहाँ देश-देश के यात्रियों का ताँता-सा लगा रहता था।

एक बार काशिराज ने यज्ञ की घोषणा की थी, इससे देश-देश के भावुक जन बुलाए और बिना बुलाए काशी में आ जुटे थे। अनेक नरपतियों को आमन्त्रित किया गया था। और अनेक सेठ-साहूकार अपनी बहुमूल्य वस्तुओं को बेचने के लिए आ जुटे थे।

मन्दिर में भव्य समारोह था। सहस्रों घृतदीप जल रहे थे। महाघण्ट के घोष से कानों के पर्दे फटे जाते थे। जनरव भी उसी में मिल गया था। वीणा, मृदंग आदि वाद्य बज रहे थे।

मन्दिर के प्रधान पुजारी का नमा सिद्धेश्वर था। वह कद में ठिगना, कृष्णकाय, अधेड़ वय का पुरुष था। उसका मुँह खिचड़ी दाढ़ी से ढका था। शरीर बलिष्ठ था, वह सदैव भगवा कौशेय धारण किए रहता था। वह आचार्य वज्रसिद्धि और काशिराज के साथ स्वर्ण सिंहासन पर बैठा था। बड़े-बड़े पात्रों में धूप जल रहा था, जिससे सारा ही वातावरण सुरभित हो रहा था। जड़ाऊ मशालों के प्रकाश में मन्दिर के खम्भों पर जड़े हुए रत्नमणि चमक रहे थे।

पूजा-विधि प्रारम्भ हुई। सोलह पुजारियों ने पूजा-आरती लिए मन्त्र-पाठ करते हुए आवेश किया। सब नंगे पैर, नंगे सिर, नंगे शरीर, कमर में पीताम्बर कन्धे पर श्वेत जनेऊ, सिर पर बड़ी चोटी। चार के हाथ में जगमगाते आरती के थाल थे। चार के हाथ में गंगाजल के स्वर्णपात्र थे। चार के हाथ में धूप, दीप और चार के हाथ में नाना विध फूलों से भरे थाल थे। आक-धतूरा और बिल्वपत्र भी उनमें थे।

उच्च स्वर में मन्त्रपाठ होने लगा।

कुछ काल तक रुद्र मन्त्रपाठ उच्च नाद के साथ हुआ। सैकड़ों कण्ठस्वरों ने मिलकर पाठ को गौरव दिया। मन्त्रपाठ समाप्त होते ही देवदासियों ने नृत्य प्रारम्भ किया। सब रंग-बिरंगी पोशाक पहने थीं। सिर पर मोतियों की माँग, कान में जड़ाऊ त्राटक, छाती पर जड़ाऊ हार, कटि प्रदेश पर रक्त पट्ट, पीठ पर लहराता हुआ उत्तरीय। हाथ में ढमरू और

झाँझ।

सैकड़ों देवदासियों के नृत्य से, दर्शक विमुग्ध हो गए। आचार्य वज्रसिद्धि भी यह निषिद्ध दृश्य देखकर प्रसन्न हो रहे थे। एकाएक नृत्य रुक गया। सब नर्तकियाँ दो भागों में विभक्त हो गईं। मंजुघोषा धीरे-धीरे मंच पर आई। उसके सिर पर उत्कृष्ट जड़ाऊ मुकुट था। शरीर पर मोतियों का श्रृंगार था। अब केवल डमरू वादन होने लगा और मंजुघोषा ने ताण्डव नृत्य बिल्कुल शैव पद्धति पर करना प्रारम्भ किया। वातावरण एक विभिन्न कम्पन्न से भर गया। मंजुघोषा की नृत्य गति बढ़ती ही गई—वह तीव्र से तीव्रतर होती गई। उपस्थित समुदाय स्तब्ध रह गया। उस षोडशी बाला का भव्य रूप, अप्रतिम कला, दिव्य नृत्य, और उसका भावावेश इन सबने उपस्थित जनों की भावविमोहित कर दिया। नृत्य के अन्त में मंजुघोषा शिवमूर्ति के समक्ष पृथ्वी में प्रणिपात करने को लेट गई। सिद्धेश्वर ने कहा–"उठो मंजु, प्रसाद ग्रहण करो।"

मंजु धीरे-धीरे उठी। उसने पुजारी से प्रसाद ग्रहण किया।

वज्रसिद्धि अब तक जड़ बैठे थे। अब वे बोल उठे–"यह लड़की साक्षात् वज्रतारा प्रतीत होती है। अरे धर्मानुज, यह देवी वज्रतारा का गन्धमाल्य इस दासी को देकर कृतार्थ कर।"

उन्होंने कण्ठ के लाल फूलों की माला उतारकर आगे बढ़ाई, परन्तु धर्मानुज भी इस देवदासी के रूप सागर में डूब रहा था। उसने आचार्य की बात नहीं सुनी। दुबारा पुकारने पर वह चौंककर उठा-उसने माला दोनों हाथों में ले ली। मंजुघोषा के निकट पहुँचकर उसने काँपते हाथों से वह माला उस देवदासी के कण्ठ में डालना चाहा। पर मंजु ने अपने दोनों हाथ उसके लिए फैला दिए। दोनों के नेत्र मिले। दोनों बाहर की सुध भूलकर वैसे के वैसे ही खड़े रह गए। दोनों के नेत्र चमक उठे, उनमें एक लाज व्याप गई, होंठ काँपने लगे और शरीर कंटकित हो गया। दिवोदास ने साहस करके माला मंजु के कण्ठ में डाल दी। मंजु ठगी-सी खड़ी रह गई। दिवोदास अपने स्थान पर लौट आया। धीरे-धीरे मंजुघोषा अपने आवास को लौट गई। दिवोदास प्यासी आँखों से उसकी मनोहर मूर्ति को देखता रहा। महाराज महाआचार्य और पुजारी तथा सब लोग उठकर अपने-अपने स्थान को चल दिए। दिवोदास भी घायल पक्षी की भाँति लड़खड़ाता हुआ अपने आवास पर पहुँचा। उसकी भूख-प्यास जाती रही।

मनोहर प्रभात

बड़ा मनोहर प्रभात था। शीतल-मन्द समीर झकोरे ले रहा था। मंजुघोषा प्रात:कालीन पूजा के लिए संगिनी देवदासियों के साथ फूल तोड़ती-तोड़ती कुछ गुनगुना रही थी। उसका हृदय आनन्द से उल्लसित था। कोई भीतर से उसके हृदय को गुदगुदा रहा था। एक सखी ने पास आकर कहा :

"बहुत खुश दीख पड़ती हो, कहो, कहीं लड्डू मिला है क्या?"

मंजु ने हँसकर कहा–"मिला तो तुम्हें क्या?"

"बहिन, हमें भी हिस्सा दो।"

"वाह, बड़ी हिस्से वाली आई।"

"इतने में एक और आ जुटी। उसने कहा–"यह काहे का हिस्सा है बहिन!"

पहिली देवदासी ने कहा :

"अरे हाँ, क्या बहुत मीठा लगा बहिन?"

मंजु ने खीजकर कहा–"जाओ, मैं तुमसे नहीं बोलती।"

सबने कहा–"हाँ बहिन, यह उचित भी है। बोलने वाले नये जो पैदा हो गए।"

"तुम बहुत दुष्ट हो गई हो।"

"हमने तो केवल नजरें पहचानी थीं।"

"और हमने देन-लेन भी देखा था।"

"पर केवल आँखों-आँखों ही में।"

"होंठों में नहीं?"

"अरे वाह, इसी से सखी के होंठों में आनन्द की रेख फूटी पड़ती है।"

"और नेत्रों से रसधार बह रही है।"

मंजु ने कहा–"तुम न मानोगी?"

एक ने कहा–"अरी, सखी को तंग न करो। हिस्सा नहीं मिलेगा।"

दूसरी ने कहा–"कैसे नहीं मिलेगा, हम उससे माँगेंगी।"

तीसरी बोली—"किससे?"

"भिक्षु से।"

मंजु ने कोप से कहा–"लो मैं जाती हूँ।"

"हाँ-हाँ, जाओ बहिन, बेचारा भिक्षु..."

"कौन भिक्षु? कैसा भिक्षु?"

“अजी वही, जिससे रात में फूल-माला लेकर चुपचाप कुछ दे दिया था।”
“और हमसे पूछा भी नहीं!”
“तुम सब दीवानी हो गई हो।”
“सच है बहिन, हमारी बहिन खड़े-खड़े लुट गई तो हम दीवानी भी न हों।”
मंजु उठकर खड़ी हुई। इस पर उसे सबने पकड़कर कहा :
“रूठ गई रानी, भला हमसे क्या परदा? हम तो एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं।”
“और देवताओं की दासियाँ हैं।”
“अजी देवताओं की क्यों? देवताओं के दासों की भी।”
“पर सखी, भिक्षु है एक ही छैला।”
“वाह, कैसी बाँकी चितवन कैसा रूप!”
“भिक्षु है तो क्या है? सैकड़ों नागरों से बढ़-चढ़कर है।”
“चल रहने दे, दुनिया में एक से एक बढ़कर भरे पड़े हैं।”
“अरी जा, हमने देखा है तेरा वह छैला, गधे की तरह रेंकता है।”
“अपने उस भैंसे को देख, सींग भी नापे हैं उसके?”
“अरी लड़ती क्यों हो, भिक्षु है किसी बड़े घर का लड़का।”
“सुना है बड़े सेठ का बेटा है।”
“होगा, अब तो भिक्षु है।”
मंजु ने कहा–“भिक्षु है तो क्या, हृदय का तो वह राजा है!”
सखी ने कहा–“अरे, हमारी सखी मंजु उसके हृदय की रानी है।”
“अच्छा, तो फिर?”
“बस तो फिर, हिस्सा।”
“जाओ-जाओ, मुँह धो रखो।” मंजु भागकर दूसरी ओर चली गई। सखियाँ खिलखिलाकर हँसने लगीं। मंजु एक गीत की कड़ी गुनगुनाती फिर फूल चुनने लगी। चुनते-चुनते वह सखियों से दूर जा पड़ी। उधर उद्यान में एक तालाब था। उसी तालाब के किनारे हरी-हरी घास पर दिवोदास और सुखानन्द बैठे बातचीत कर रहे थे। फूल तोड़ते-तोड़ते मंजु वहीं जा पहुँची। दिवोदास को देखा तो वह धक् से रह गई। दिवोदास ने भी उसे देखा। उसने कहा–“पितृव्य, यह तो वही देवदासी आ रही है।”
“तो भैया, यहाँ से भगा चलो, नहीं फँस जाओगे।”
परन्तु दिवोदास ने सुखदास की बात नहीं सुनी। वह उठकर मंजु के निकट पहुँचा और कहा :
“यह तो अयाचित दर्शन हुआ।”
“किसका?”
“आपका।”
“नहीं, आपका।”
“किन्तु आप देवी हैं।”
“नहीं, मैं देवदासी हूँ।”
“भाग्यशालिनी देवी।”

"अभागिनी देवदासी।"

अब सुखदास भी उठकर वहाँ आ गया। उसने पिछली बात सुनकर कहा :

"नहीं, नहीं, ऐसा न कहो देवी।"

दिवोदास ने कहा–"तुम प्रभात की पहिली किरण के समान उज्ज्वल और पवित्र हो।"

"मैं मिट्टी के ढेले के समान निस्सार और निरर्थक हूँ।"

"अरे, आँखों में आँसू? पितृव्य, यह इतना दुःखी क्यों?"

सुखदास ने कहा–"जो कली अभी खिली भी नहीं, सुगन्ध और पराग अभी फूटा भी नहीं, उसमें कीड़ा लग गया है?"

दिवोदास ने कहा–"बोलो, तुम्हें क्या दुःख है?"

"मैं अज्ञातकुलशीला अकेली, असहाया, अभागिनी देवदासी हूँ, इसमें मेरा सारा दुःख-सुख है।"

"तो मेरे ये प्राण और शरीर तुम्हारे लिए अर्पित हैं।"

"मैं कृतार्थ हुई, किन्तु अब जाती हूँ।"

"इस तरह न जा सकोगी, तुमने अपने आँसुओं में मुझे बहा दिया है, कहो क्या करने से तुम्हारा दुःख दूर होगा। तुम्हारे दुःख दूर करने में मेरे प्राण भी जाएँ, तो यह मेरा अहोभाग्य होगा।"

सुखदास ने कहा–"अपने दिल की गाँठ खोल दो देवी, भैया बात के बड़े धनी हैं।"

"क्या कहूँ, मेरा भाग्य ही मेरा सबसे बड़ा दुःख है। विधाता ने जब देवदासी होना मेरे ललाट में लिख दिया, तो समझ लो कि सब दुःख मेरे ही लिए सिरजे गए हैं। जिस स्त्री का अपने शरीर और प्राणों पर अधिकार नहीं, जिसकी आत्मा बिक चुकी है, जिसके हृदय पर दासता की मुहर है, प्रतिष्ठा, सतीत्व, पवित्रता जिसके जीवन को छू नहीं सकते, जिसका रूप-यौवन सबके लिए खुला हुआ है, जो दिखाने को देवता के लिए श्रृंगार करती है, परन्तु जिसका श्रृंगार वास्तव में देवदर्शन के लिए नहीं, श्रृंगार को देखने आए हुए लम्पट कुत्तों के रिझाने के लिए हैं, ऐसी अभागिनी देवदासी के लिए अपने पवित्र बहुमूल्य प्राणों को दे डालने का संकल्प न करो भिक्षु।"

उसने चलने को कदम बढ़ाया। परन्तु दिवोदास ने आगे आकर और राह रोककर कहा–"समझ गया, परन्तु ठहरो। मुझे एक बात का उत्तर दो। तुम इस नन्हे-से हृदय में इतना दुःख लिए फिरती हो, फिर तुम उस दिन किस तरह नृत्य करती हुई उल्लास की मूर्ति बनी हुई थीं?"

"इसके लिए हम विवश हैं, यह हमारी कला है, उसका हमने वर्षों अभ्यास किया है।"

उसने हँसने की चेष्टा की। पर उसकी आँखों से झर-झर आँसू गिरने लगे।

दिवोदास ने उसका हाथ थामकर दृढ़ स्वर में कहा–"देवी, मैं तुम्हें प्रत्येक मूल्य पर इस दासता से मुक्त करूँगा, मैं तुम्हारे हृदय को आनन्द और उमंगों से भर दूँगा।"

दिवोदास ने उसके बिल्कुल निकट आ स्नेहसिक्त स्वर में कहा–"मैं तुम्हारे जीवन की कली-कली खिला दूँगा।"

उसने एक बड़ा-सा फूल उसकी डोलची में से उठाकर, उसके जुड़े में खोंस दिया। और उसके कन्धे पर हाथ धरकर कहा :

"तुम्हारा नाम?"

"मंजुघोषा, पर तुम 'मंजु' याद रखना, और तुम्हारा प्रिय?"

"मैं भिक्षु धर्मानुज हूँ।"

"धर्मानुज?"

एक हास्यरेखा उसके होंठों पर आई और एक कटाक्ष दिवोदास पर छोड़ती हुई वह वहाँ से भाग गई।

सुखदास ने कहा–"भैया, यह बड़ी अच्छी लड़की है।"

"पितृव्य, तुम सदा उस पर नजर रखना, उसकी रक्षा करना, उसे कभी आँखों से ओझल नहीं होने देना, मुझे उसकी खबर देते रहना।"

सुखदास ने हँसकर कहा–"फिकर मत करो भैया, इसी से तुम्हारी सगाई कराऊँगा।"

सुखदास एक गीत की कड़ी गुनगुनाने लगा।

अभिसन्धि

महा संघस्थविर वज्रसिद्धि और महन्त सिद्धेश्वर एकान्त कक्ष में बैठे गुप्त मन्त्रणा कर रहे थे। दोनों दो पृथक् आसन पर बैठे थे। वज्रसिद्धि ने कहा–"अच्छा, उसके बाद?"

"उसके बाद क्या? लिच्छविराज ने काशिराज की प्रार्थना स्वीकार नहीं की। इस पर काशिराज ने सैन्य लेकर लिच्छविराज की राजधानी वैशाली को घेर लिया। लिच्छविराज भी दुर्बल न था। वह भी सैन्य लेकर सम्मुख आया। घनघोर युद्ध हुआ। परन्तु मेरी अभिसन्धि से लिच्छविराज का छिद्र मिल गया। काशिराज ने उनके प्रासाद में घुसकर लिच्छविराज को मार डाला और महल तथा नगर लूट लिया। पीछे उसमें आग लगा दी। सारा नगर जलकर खाक हो गया।

"परन्तु आपका काम?"

"वह नहीं हुआ। बहुत सिर मारने पर भी वह गुप्त धनकोष नहीं मिला। मेरी इच्छा लिच्छविराज को जीवित पकड़ने की थी—ऐसी ही मैंने काशिराज को सलाह भी दी थी। परन्तु काशिराज ने मेरी बात नहीं रखी, क्रोध में आ लिच्छविराज को तलवार के घाट उतार दिया। इससे उस गुप्त राजकोष का भेद भी लिच्छविराज के साथ चला गया।"

"फिर?"

"उस मार-काट और लूट-पाट में गुप्त राजकोष को ढूँढ़ते हुए एक गुप्त स्थान में छिपी एक दासी के साथ तीन वर्ष की बालिका मिली। दासी ने उस बालिका को छीन ले जाने से रोकने के लिए मेरे सेवकों को बहुत स्वर्ण-धन देना चाहा, परन्तु उन्होंने नहीं माना। वे उसे मेरे पास ले आए। बालिका के साथ उसकी धाय भी रोती-पीटती आई और बहुत कुछ अनुनय-विनय उस बालिका को छोड़ देने के लिए करने लगी। परन्तु जब मैंने उस बालिका को काशी ले जाने का संकल्प नहीं छोड़ा तो उसने रो-पीटकर उसके साथ स्वयं भी चलने की प्रार्थना की। बालिका बड़ी सुन्दर थी तथा वह उसकी दासी-धाय थी, इससे मैंने उसे भी बालिका के साथ रहने की अनुमति दे दी।"

"तो वह कन्या?"

"मन्दिर में लाकर मैंने उसे देवार्पण कर दिया और वह देवदासी बना ली गई। उसकी धाय को भी देवदासियों में रख लिया।"

"तो यही वह कन्या है? क्या नाम है इसका?"

"मंजुघोषा, यह नाम उस दासी ही ने रखा था।"

"और वह दासी अब कहाँ है?"

“वह अभी तक उसी कन्या के साथ देवदासियों में रहती है। उसका शील और नैपुण्य देख मैंने उसे सब देवदासियों का प्रधान बना दिया है।”

‘उसका नाम क्या है?”

“सुनयना।”

“ठीक है। तो आपको यह भेद कैसे मालूम हुआ कि मंजुघोषा लिच्छविराज नृसिंहदेव की पुत्री है?”

“कन्या के कण्ठ में एक गुटिका थी, उसी से। उसमें उसकी जन्म-तिथि तथा वंशपरिचय था। पीछे उस दासी ने भी यह बात स्वीकार कर ली। इसी से उन दोनों के रहने की उत्तम व्यवस्था मैंने कर दी। तथा यह भेद भी मैंने अपने पेट में रखा।”

“तो महात्मन्, मैं आपको अब और एक भेद बताता हूँ कि यह सुनयना दासी वास्तव में लिच्छविराज नृसिंहदेव की राजमहिषी है। और मंजुघोषा की असल जन्मदात्री माता है।”

“अरे! यह कैसी बात?”

“यह सत्य बात है।”

“किन्तु इसका प्रमाण?”

“मैं स्वयं उसे जानता हूँ। इसी से मैंने उसे बुलवाया है। क्या वह आई है?”

“बाहर उपस्थित है।”

“तो उसे बुलवाइये। वही एक व्यक्ति इस समय जीवित है, जो लिच्छविराज के उस गुप्त कोष का ठीक पता जानता है।”

महाप्रभु ने ताली बजाई। माधव कक्ष में आ उपस्थित हुआ। महाप्रभु ने कहा :

“सुनयना दासी को यहाँ ले आओ।”

सुनयना ने आकर पृथ्वी पर गिरकर दोनों महात्माओं को प्रणाम किया। सुनयना की आयु कोई 40 वर्ष की होगी। कभी वह अप्रतिम रूप लावण्यवती रही होगी, इस समय भी रूप ने उसे छोड़ा नहीं था। वह निरवलम्ब थी—परन्तु उसका उज्ज्वल-शुभ्र-प्रशस्त ललाट और बड़ी-बड़ी आँखें उसकी महत्ता का प्रदर्शन कर रही थीं।

सुनयना ने बद्धांजलि होकर कहा–“महाप्रभु ने दासी को किसलिए बुलाया है?”

वज्रसिद्धि ने कुटिल हास्य करके कहा–“लिच्छविराज की महिषी सुकीर्ति देवी, तुम्हारा कल्याण हो! मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ।”

राजमहिषी ने घबराकर आचार्य की ओर देखा, फिर कहा–“आचार्य! मैं अभागिनी सुनयना दासी हूँ।”

वज्रसिद्धि जोर से हँस दिए। उन्होंने कहा–“अभी वज्रसिद्धि की आँखें इतनी कमजोर नहीं हुई हैं। परन्तु महारानी, तुम धन्य हो, तुमने विपत्ति में अपनी पुत्री की खूब रक्षा की।”

रानी ने विनयावनत होकर कहा–“आचार्य, आप यदि सचमुच ही मुझे पहचान गए हैं, तो इस अभागिनी विधवा नारी की प्रतिष्ठा का विचार कीजिए।”

‘महारानी, मैं तुम्हें और तुम्हारी कन्या को स्वतन्त्र कराने ही काशी आया हूँ। महाप्रभु ने ज्यों ही मेरे मुँह से तुम्हारा परिचय सुना—वे तुम्हें स्वतन्त्र करने को तैयार हो

गए।''

''इस अभागिनी के भाग्य आपके हाथ में हैं।''

''मैं तुम दोनों को अपने साथ ले जाऊँगा, तथा लिच्छविराज को सौंप दूँगा। माता और भगिनी को पाकर लिच्छविराज प्रसन्न होंगे।''

''यह तो असम्भावित-सा भाग्योदय है, जिस पर एकाएक विश्वास ही नहीं होता।''

महाप्रभु ने धीमी तथा दृढ़ वाणी से कहा–''मैं तुम्हें छोड़ दूँगा, महारानी!''

''मेरी पुत्री सहित?''

''हाँ।''

'आप धन्य हैं महाप्रभु!''

''परन्तु एक शर्त है।''

''शर्त कैसी?''

''मुझे गुप्त रत्नागार का बीजक दे दो।''

''कैसा बीजक?''

''इतनी नादान न बनो महारानी। बस, बीजक दे दो और तुम तथा तुम्हारी कन्या स्वतन्त्र हो।''

''प्रभु, मैं इस सम्बन्ध में कुछ नहीं जानती, मैं लिच्छविराज की पट्टराजमहिषी सुकीर्ति देवी नहीं हूँ, सुनयना दासी हूँ, मैं कुछ नहीं जानती।''

''तुम्हें बीजक देना होगा महारानी!''

''मैं कुछ नहीं जानती।''

''सो अभी जान जाओगी।'' उन्होंने क्रुद्ध स्वर में माधव को पुकारा। माधव आ खड़ा हुआ। महाप्रभु ने कहा–''इस स्त्री को अभी अन्धकूप में डाल दो।''

माधव ने रानी का हाथ पकड़कर कहा–''चलो।''

वज्रसिद्धि ने कहा–''ठहरो माधव।'' फिर रानी की ओर देखकर मृदु स्वर से कहा–''बता दो महारानी, इसी में कल्याण है, मैं तुम्हारा शुभ चिन्तक हूँ!''

''तुम दोनों लोलुप गृद्धों को मैं पहचानती हूँ,'' रानी ने सिंहिनी की भाँति ज्वालामय नेत्रों से उनकी ओर देखा—फिर सीना तानकर कहा–''जाओ, मैं कुछ नहीं जानती।''

सिद्धेश्वर ने गरजकर कहा–''तब ले जाओ माधव?''

परन्तु वज्रसिद्धि ने माधव को फिर ठहरने का संकेत करके सिद्धेश्वर के कान में कहा–'अन्धकूप में डालने को बहुत समय है, अभी उसे समय की ढील दो।'' फिर उच्च स्वर से कहा–''जाओ महारानी, अच्छी तरह सोच-समझ लो। अन्धकूप कहीं दूर थोड़े ही है।''

उसने कुटिल हास्य करके सिद्धेश्वर की ओर देखा। सुनयना चली गई। और दोनों महापुरुष भी अन्तर्धान हुए। कहने की आवश्यकता नहीं, कि सुखदास ने छिपकर सारी बातें सुन ली थीं। उसने खूब सतर्क रहकर, माता-पुत्री की प्राण रहते रक्षा करने की मन ही मन प्रतिज्ञा की।

एकान्त मिलन

वैसा ही मनोरम प्रभात था। दिवोदास उसी पुष्करिणी के तीर पर उसी वृक्ष की छाया में बैठा, निर्मल जल में खेलती लहरों को देख रहा था। वह कोई गीत गा रहा था। और उसका मन प्रफुल्ल था। उसने प्रेमविभोर हो आप ही आप कहा–प्रेम-प्रेम-प्रेम, प्रेम के स्मरण से ही आत्मा कैसी हरी हो जाती है! हृदय में हिलोरें उठती हैं, जैसे नये प्राण शरीर में आ गए हों। वह जैसे प्रत्यक्ष मंजु की रूप-माधुरी को देखने लगा। उसके मुँह से निकला–''वाह, कैसी रूप-माधुरी है, कैसी चितवन है, वीणा झंकार के समान उसकी स्वरलहरी रक्त की बूँदों को उत्मत्त कर डालती है। परन्तु खेद है, मुझे और कदाचित् उसे भी इस विषय पर चिन्तन करने का अधिकार नहीं है। मैं भिक्षु हूँ और वह देवदासी। मेरे लिए संसार मिट्टी का ढेला है और उसके लिए अन्धेरा कुआँ। वह कुछ देर चुपचाप एकटक लहरों को देखता रहा। फिर उसने आप ही आप असंयत होकर कहा–''क्या यही धर्म है? परन्तु इस धर्म का तो जीवन के साथ कुछ भी सहयोग नहीं दीखता? वह धर्म कैसा? जो जीवन से दूर है-जीवन का विरोधी है, जो जीवन का पातक है। नहीं, नहीं, वह धर्म नहीं है—पाखण्ड है। प्यार ही सब धर्म से बढ़कर धर्म है।''

उसे दूर से मंजु की स्वर-लहरी सुनाई दी। वह उठकर इधर-उधर देखने लगा। मंजु फूलों से भरी टोकरी लिए उसी ओर गुनगुनाती आ रही थी। दिवोदास ने कहा–''आहा, वही स्वर्ग की सुन्दरी है। कैसी अपार्थिव इसकी सुषमा है! वन सज गया, संसार सुन्दर हो गया।'' उसने आगे बढ़कर कहा...

''मंजु!''

''क्या तुम? भिक्षु धर्मानुज!''

''हाँ मंजु! किस शक्ति ने मुझसे तुम्हें इस समय यहाँ मिला दिया, कहो तो?''

''प्रेम की शक्ति ने प्रिय भिक्षु, क्या तुम प्रेम के विषय में कुछ जानते हो?''

''ओह, कुछ-कुछ, किन्तु तुम्हारा वह गान कैसा हृदय को उन्मत्त करने वाला था।''

''तुम्हें प्रिय लगा?''

''बहुत-बहुत, उसने मेरे हृदय की वीणा के तारों को छेड़ दिया है, वे अब मिलना ही चाहते हैं। देवी, कैसा सुन्दर यह संसार है, कैसा मनोहर यह प्रभात है, और उनसे अधिक तुम, केवल तुम।''

''क्या तुमसे भी अधिक भिक्षुराज?''

'मैं क्या तुम्हें सुन्दर दीख पड़ता हूँ?''

"तुम बहुत ही सुन्दर हो प्रिय," मंजु ने निकट आकर उसका उत्तरीय छू लिया।

दिवोदास ने उसका आँचल पकड़कर कहा–"मंजु, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ—प्राणों से भी अधिक-क्या तुम जानती हो!"

मंजु का कण्ठ सूख गया—उसने भयभीत स्वर में कहा–"प्यार, नहीं-नहीं, यह असम्भव है।"

"नहीं प्रिये, यह खूब सम्भव है।"

मंजु ने दिवोदास का चीवर छूकर कहा–"भिक्षुराज, अपना यह चीवर देखो और मेरे कण्ठ का यह गलग्रह!" उसने कण्ठ में लटकती देवता की मूर्ति की ओर संकेत किया। फिर उसने टूटते स्वर में कहा–"हम दोनों नष्ट जीव हैं प्रिय, प्रेम के अधिकारी नहीं।"

दिवोदास ने आवेश में आकर कहा–"मेरा यह वेश और तुम्हारा गलग्रह झूठा आडम्बर है। सच्ची वस्तु हमारा हृदय है, और वह प्रेम से परिपूर्ण है। यदि हृदय-हृदय को खींचता है तो मैं कहूँगा, मेरी तरह तुम भी प्रेम का घाव खा गई हो।"

मंजु सिर नीचा किए खड़ी रही–दिवोदास ने कहा–"बोलो, क्या तुम भी मुझसे प्रेम करती हो?"

"यह प्रश्न तो भिक्षु के पूछने योग्य नहीं है प्रिय, और...।"

"और क्या?"

"अभागिनी देवदासी के सुनने योग्य भी नहीं। इसी से कहती हूँ, मुझे जाने दो-मैं जाती हूँ।"

"जाना नहीं। मेरे प्रश्न का उत्तर दो।"

परन्तु मंजु ने उत्तर नहीं दिया। वह भूमि पर दृष्टि गड़ाए खड़ी रही। दिवोदास ने आवेशित होकर कहा–"कहो, कहो, सच बात कहो।"

"कहती हूँ।" इन शब्दों के साथ ही मंजु की आँखों से टप-टप आँसू टपक पड़े। उसने कुछ कहना चाहा, पर उसके मुँह से बोल नहीं फूटा। वह वहाँ से चलने लगी। दिवोदास ने बाधा देकर कहा–"तब जाती कहाँ हो प्रिये, इस पृथ्वी पर कोई शक्ति नहीं, जो हमें पृथक् कर सके। आओ हम पति-पत्नी के पवित्र सूत्र में बँध जायँ। यह उर्ध्वोन्मुख सूर्य और यह पतित पावनी गंगा हमारी साक्षी रहेंगे।" उसने कसकर मंजु को आलिंगन-पाश में बाँध लिया।

मंजु ने छटपटाकर कहा–"भिक्षुराज!"

"कौन भिक्षुराज, मैं विक्रमशिला के महा सेट्ठि धनंजय का इकलौता पुत्र दिवोदास हूँ," उसने अपना चीवर चीर-चारकर फेंक दिया।

मंजु हक्की-बक्की खड़ी देखती रह गई। उसके मुँह से बड़ी देर तक बोली न निकली। फिर उसने कहा–"प्यारे, जानते हो इस अपराध का दण्ड केवल मृत्यु है।"

"क्या मृत्यु से तुम डरती हो प्रिये?"

"मुझे मृत्यु से भय नहीं। मैं तुम्हारे लिए डरती हूँ, प्रिये।"

"मैं निर्भय हूँ। और सारे संसार के सामने मैं श्रेष्ठिराज धनंजय का पुत्र, आज से धर्मत: तुम्हारा पति हुआ।"

मंजु ने पुलकित गात होकर अस्त-व्यस्त स्वर में कहा–"और श्रेष्ठि पुत्र, मैं

लिच्छविराज कुमारी भगवती मंजुघोषा आज से धर्मपूर्वक तुम्हारी पत्नी हुई।''

दिवोदास ने आश्चर्य से उछलकर कहा–''क्या कहा? फिर कहो? राजकुमारी भगवती मंजुघोषा?''

''किन्तु तुम्हारी चिरकिंकरी प्रियतमा।'' उसने दिवोदास की छाती में सिर छिपा लिया। दिवोदास ने उसे कसकर छाती से लगा उसके मुख पर प्रथम चुम्बन अंकित किया।

मंजुघोषा ने अपने आँचल से एक भव्य माला निकालकर कहा–''इसे मैंने नित्य की भाँति अपने देवता के लिए बनाई थी, सो उसे अपनी हार्दिक अभिलाषाओं के साथ हृदय के देवता को अर्पण करती हूँ।''

माला उसने दिवोदास के कण्ठ में डाल दी। दिवोदास ने माला को चूम कर और हँसकर कहा–''यह देव प्रसाद तो भगवान् ही पा सकता है। देखो, यह माला ही हमको एक कर देगी।''

उसने वही माला कण्ठ से उतारकर मंजुघोषा के गले में डाल दी। दोनों खिल-खिलाकर हँस पड़े, और गाढ़ालिंगन में बद्ध हो गए।

गुरु के सम्मुख

आचार्य वज्रसिद्धि ने एकान्त कक्ष में दिवोदास को बुलाकर कहा–''यह क्या वत्स, मैंने सुना है कि तुमने चीवर त्याग दिया–भिक्षु-मर्यादा भंग कर दी?''

''आपने सत्य ही सुना आचार्य।''

''किन्तु यह तो गर्हित पापकर्म है!''

''आप तो मुझे प्रथम ही पाप मुक्त कर चुके हैं आचार्य, अब भला पाप मुझे कहाँ स्पर्श कर सकता है!''

''पुत्र, तुम अपने आचार्य का उपहास कर रहे हो?''

''आचार्य जैसा समझें।''

''पुत्र, क्या बात है कि तुम मुझसे भयशंकित हो दूर-दूर हो। तुम्हें तो अपने प्रधान बारह शिष्यों का प्रधान बनाया है। तुम्हें क्या चिन्ता है! मन की बात मुझसे कहो। मैं तुम्हारा गुरु हूँ।''

''आचार्य, मुझे आपसे कुछ कहना नहीं है।''

''क्यों?''

''मैं कुछ कह नहीं सकता।''

''तुम्हें कहना होगा पुत्र!''

''तब सुनिए कि मैं भिक्षु नहीं हूँ-विवाहित सद्गृहस्थ हूँ।''

''ऐं, यह कैसी बात?''

''जैसा आचार्य समझें।''

''क्या तुम सद्धर्म पर श्रद्धा नहीं रखते?''

''नहीं।''

''कारण?''

''कारण बताऊँगा तो आचार्य, अविनय होगा।''

'मैं आज्ञा देता हूँ, कहो।''

''तो सुनिए, आप धर्म की आड़ में धोखा और स्वार्थ का खेल खेल रहे हैं। बाहर कुछ और भीतर कुछ। सब कार्य पाखण्डमय हैं।''

''बस, या और कुछ?''

''आचार्य, आपने क्यों मेरा सर्वनाश किया? मुझे इस कपट धर्म में दीक्षित किया? आपने संयम, त्याग, वैराग्य और ज्ञान की कितनी डींग मारी थी, वह सब तो झूठ था न?''

“पुत्र, तुम जानते हो कि किससे बातें कर रहे हो?”

दिवोदास ने आचार्य की बात नहीं सुनी। वह आवेश में कहता गया–“मैंने देख लिया कि ये लोभी-कामी-दुष्ट और हत्यारे भिक्षु कितने पतित हैं। अब साफ-साफ कहिए, किसलिए आपने मुझे इस अन्धे कुएँ में ला पटका है? आपकी क्या दुरभिसन्धि है?”

आचार्य ने कुटिल हास्य हँसते हुए कहा–“तुम्हें सत्य ही पसन्द है तो सत्य ही सुनो-तुम्हारे पिता की अटूट सम्पदा को हड़पने के लिए।”

“यह मेरे जीते-जी आप न कर पाएँगे आचार्य।”

“तो तुम जीवित ही न रहने पाओगे।”

“आपने मुझे निर्वाण का मार्ग दिखाने को कहा था?”

“क्रोध न करो बच्चे, वह मार्ग मैं तुम्हें बताऊँगा। सुनो राजनीति की भाँति धर्मनीति भी टेढ़ी चाल चलती है। तुम जानते हो, हिन्दू धर्म जीव-हत्या का धर्म है। यज्ञ और धर्म के नाम पर बेचारे निरीह पशुओं का वध किया जाता है। यज्ञ के पवित्र कृत्यों के नाम पर मद्यपान किया जाता है। इस हिन्दू धर्म में स्त्रियों और मर्दों पर भी, उच्च जाति वालों ने पूरे अंकुश रख उन्हें पराधीन बनाया है। अछूतों के प्रति तथा छोटी जाति के प्रति तो अन्यायाचरण का अन्त ही नहीं है। वे देवदासियाँ जो धर्म बन्धन में बँधी हैं, पाप का जीवन व्यतीत करती हैं।”

दिवोदास सुनकर और मंजुघोषा का स्मरण करके अधीर हो उठा। परन्तु आचार्य कहते गए–“पुत्र, आश्चर्य मत करो, बौद्ध धर्म का जन्म इसी अधर्म के नाश के लिए हुआ है, किन्तु मूर्ख जनता को युक्ति से ही सीधा रास्ता बताया जा सकता है, उसी युक्ति को तुम छल कहते हो।”

“आचार्य, आपका मतलब क्या है?”

“यही कि मुझ पर विश्वास करो और देखो कि तुम्हें सूक्ष्म तत्त्व का ज्ञान किस भाँति प्राप्त होता है।”

“सूक्ष्म तत्त्व का या मिथ्या तत्त्व का?”

“अविनय मत करो पुत्र।”

“आप चाहते क्या हैं?”

“एक अच्छे काम में सहायता।”

“वह क्या है?”

“उस दिन उस देवदासी को तुमने देवी का गंधमाल्य दिया था न?”

“फिर?”

“जानते हो वह कौन है?”

“आप कहिए।”

“वह लिच्छविराज कुमारी मंजुघोषा है।”

“तब फिर?”

“उसकी माता लिच्छवि पट्टराजमहिषी नृसिंह देव की पत्नी, छद्मवेश में यहाँ अपनी पुत्री के साथ, सुनयना नाम धारण करके देवदासियों में रहती थी। उसे सिद्धेश्वर ने अन्धकूप में डलवा दिया है।”

“किसलिए?” दिवोदास ने उत्तेजित होकर कहा।
“लिच्छविराज का गुप्त रत्नागार का पता पूछने के लिए।”
“धिक्कार है इस लालच पर।”
“बच्चा, उसे बचाना होगा। परोपकार भिक्षु का पहला धर्म है।”
“मुझे क्या करना होगा?”
“आज रात को मेरा एक सन्देश लेकर बन्दी गृह में जाना होगा।”
“क्या छिपकर?”
“हाँ!”
“नहीं।”
“सुन लड़के, सिद्धेश्वर उस बालिका पर भी पाप दृष्टि रखता है। उसकी रक्षा के लिए उसकी माता का उद्धार करना आवश्यक है।
“मैं अभी उस पाखण्डी सिद्धेश्वर का सिर धड़ से पृथक् करता हूँ।”
“किन्तु, पुत्र, बल प्रयोग पशु करते हैं। फिर हमें अपने बलाबल का भी विचार करना है।”
“आपकी क्या योजना है?”
“युक्ति।”
“कहिए।”
“कर सकोगे?”
“अवश्य।”
वज्रसिद्धि ने एक गुप्त पत्र देकर कहा :
“पहले, इसे चुपचाप सुनयना को पहुँचा दो। लेखन सामग्री भी ले जाना-इसके उत्तर आने पर सब कुछ निर्भर है।”
“क्या निर्भर है?”
“सुनयना का सन्देश पाकर लिच्छविराज काशी पर अभियान करेगा।”
“समझ गया, किन्तु प्रहरी?”
“लो, यह सबका मुँह बन्द कर देगी।” आचार्य ने मुहरों से भरी एक थैली दिवोदास के हाथों में पकड़ा दी। साथ ही एक तीक्ष्ण कटार भी।
“इसका क्या होगा?”
“आत्म-रक्षा के लिए।”
“ठीक है।”
यह सुनकर स्वस्थ हो आचार्य ने कहा-“तो पुत्र, तुम जाओ। तुम्हारा कल्याण हो।”
बाहर आकर दिवोदास ने देखा, सुखदास खड़ा है। उसने उसे देखकर प्रसन्न होकर कहा–“सुना?”
“सुना।”
“यह देखो, उसने मुहरों की थैली दी है।”
“देखी, और यह छुरी भी देखी।” सुखदास ने हँस दिया।
“मतलब समझे?”

“पहले ही से समझे बैठा हूँ। तुम चिन्ता न करो, चलो मेरे साथ।” दोनों एक ओर को चल दिए।

राजा का साला

उन दिनों राजा के सालों का भी बहुत महत्व था। विलासी राजा लोग नीच-ऊँच, जात-पाँत का बिना विचार किए सब जाति की लड़कियों को अपनी रानी बना लेते थे। विवाह करके और बिना विवाह के भी। आर्यों के धर्म में पुरानी मर्यादा चली आई है कि उच्च जाति के लोग नीच जाति की लड़की से विवाह कर सकते थे। यह मर्यादा अन्य जाति वालों ने इस काल में बहुत कुछ त्याग दी थी और वे अपनी ही जाति में विवाह करने लगे थे। पर राजा अभी तक जात-पाँत की परवाह न करते थे। छोटी जाति की सुन्दरी लड़कियों को खोज-खोजकर अपनी अंकशायिनी बनाते थे। बहुत लोग अपना मतलब साधने के लिए अपनी लड़कियाँ घूस दे-देकर राजा के रंग महल में भेजते थे। खास कर प्रधानमन्त्री की लड़की तो राजा की एक रानी बनती ही थी, जो उसके लिए चतुर जासूस और आलोचक का काम देती थी। इस प्रथा का एक परिणाम यह होता था कि राजा के सालों की एक फौज तैयार हो जाती थी। नीच जाति के दुश्चरित्र लोग किसी भी ऐसी लड़की से सम्बन्ध जोड़कर—जो किसी भी रूप में रंग-महल में राजा की अंकशायिनी हो चुकी हो-उसके भाई बन जाते और अपने को बड़ी अकड़ से राजा का साला घोषित करते थे। इन राजा के सालों की कहीं कोई दाद-फरियाद न थी। ये चाहे जिस भले आदमी के घर में घुस जाते, उसकी कोई भी वस्तु उठा ले जाते, हाट-बाजार से दूकानदारों का माल उठाकर चम्पत हो जाते। इन पर कोई मामला मुकदमा नहीं चला सकता था। 'मैं राजा का साला', इतना ही कह देने भर से न्यायालय के न्यायाधीश भी उनके लिए कुर्सी छोड़ देते थे। बहुधा इन सालों का प्रवेश राजदरबार में हो जाता था। और योग्यता की चिन्ता न करके इन्हें राज्य में बड़े-बड़े पद मिल जाते थे। वहाँ बैठकर ये लोग अन्धेर-गर्दियाँ किया करते थे। ऐसा ही वह सामन्ती काल था, जब बारहवीं शताब्दी समाप्त हो रही थी।

काशी के बाजार में काशिराज का साला शम्भुदेव मुसाहिबों सहित नगर भ्रमण को निकला। हाट-बाजार सुनसान था। दूकानें बन्द थीं। पहर रात बीत चुकी थी। सड़कों पर धुँधला प्रकाश छा रहा था। राजा का यह साला नगर कोतवाल भी था।

चलते-चलते उसने मुसाहिबों से कहा–"खेद है कि कामदेव के बाणों से घायल होकर रात-दिन सुरा-सुन्दरियों में मन फँस जाने से नगर का कुछ हाल-चाल महीनों से नहीं मिल रहा है।"

मुसाहिब ने हाथ बाँधकर कहा–"धन-धम-मूर्ति, आपको नगर की इतनी चिन्ता है!"

शम्भुदेव ने कपाल पर आँखें चढ़ाकर कहा–"नगर की चिन्ता मुझे न होगी तो क्या राजा को होगी! अरे, आखिर नगर कोतवाल मैं हूँ या राजा?"

सब मुसाहिबों ने हाथ बाँधकर कहा–"हाँ, महाराज, हाँ, आप ही नगर कोटपाल हैं धर्मावतार।"

"तब हमें ही राजा समझो। राजा के बाद बस..." उसने एक विशेष प्रकार का संकेत किया और हँस दिया।

सब मुसाहिबों ने बिना आपत्ति कोटपाल के मत में सहमति दे दी। इस पर प्रसन्न होकर शम्भुदेव ने कहा–"तब मुझे नगर की बस्ती की चिन्ता तो रखनी ही चाहिए। अरे चर मिथ्यानन्द, नगर का हाल-चाल कह।"

मिथ्यानन्द ने हाथ बाँधकर विनयावनत हो कहा–"जैसी आज्ञा महाराज, परन्तु अभयदान मिले तो सत्य-सत्य कहूँ।"

"कह, सत्य-सत्य कह। तुझे हमने अभयदान दिया। हम नगर कोटपाल हैं कि नहीं!"

"हैं, महाराज। आप ही नगर कोटपाल हैं।"

"तब कह, डर मत।"

"सुनिए महाराज! नगर में बड़ा गड़बड़झाला फैला हुआ है। वेश्यायें और उनके अनुचर भूखों मर रहे हैं। लोग अपनी-अपनी सड़ी-गली धर्म-पत्नियों से ही सन्तोष करने लगे। धुनियाँ-जुलाहे, चमार खुलकर मद्य पीते हैं, कोई कुछ नहीं कहता, पर ब्राह्मण को सब टोकते हैं। मद्य की बिक्री बहुत कम हो गई है, लोग रात-भर जागते रहते हैं, चोर बेचारों की घात नहीं लगती। वे घर से निकले–कि फँसे। सड़कों पर रात-भर रोशनी रहती है। भले घर की बहू-बेटियाँ अब छिपकर अभिसार को जाँय तो कैसे? और महाराज, अब तो ब्राह्मण भी परिश्रम करने लगे।"

चर की यह सूचना सुनकर कोटपाल को बहुत क्रोध आया। उसने कहा–"समझा-समझा, बहुत दिन से हमने जो नगर के प्रबन्ध पर ध्यान नहीं दिया, इसी से ऐसा हो रहा है। मैं सबको कठोर दण्ड दूँगा।"

सब मुसाहिबों ने हाथ बाँधकर कहा–"धन्य है धर्ममूर्ति, आप साक्षात् न्यायमूर्ति हैं।"

कोटपाल ने उपाध्यक्ष कुमतिचन्द्र की ओर मुँह करके कहा–"तुम क्या कहते हो कुमतिचन्द्र?"

कुमतिचन्द्र ने हाथ बाँधकर कहा–"श्रीमान् का कहना बिल्कुल ठीक है।"

परन्तु कोटपाल ने क्रुद्ध स्वर में कहा–"प्रबन्ध करना होगा, प्रबन्ध। सुना तुमने, नगर में बड़ा गड़बड़ हो रहा है!"

कोटपाल की डाँट खाने का उपाध्यक्ष अभ्यस्त था। उसने कुछ भी विचलित न होकर कहा–"हाँ, महाराज, हाँ।"

"तब करो प्रबन्ध।"

उपाध्यक्ष ने निर्विकार रूप से हाथ बाँधकर कहा–"जो आज्ञा महाराज। मैं अभी प्रबन्ध करता हूँ।"

कोटपाल उपाध्यक्ष के वचन से प्रसन्न और सन्तुष्ट हो गया। "तुम्हें पुरस्कार दूँगा–कुमति, तुम मेरे सबसे अच्छे सहयोगी हो। परन्तु देखो-वह गोरख ब्राह्मण इधर ही आ रहा है।"

कोटपाल ने ब्राह्मण के निकट आने पर कहा–"प्रणाम ब्राह्मण देवता।"

गोरख आदर्श ब्राह्मण था। घुटा हुआ सिर और दाड़ी-मूँछ, सिर के बीचोबीच मोटी चोटी। कण्ठ में जनेऊ। शीशे की भाँति दमकता शरीर, मोटी थल-थल तोंद। छोटी-छोटी आँखें, पीताम्बर कमर में बाँधे और शाल कन्धे पर डाले, चार शिष्यों सहित वह नगर चारण को निकला था।

कोटपाल की ओर देख तथा उसके प्रणाम की कुछ अवहेलना से उपेक्षा करते हुए उसने कहा–"अहा, नगर कोटपाल है?" फिर शिष्य की ओर देखकर कहा–"अरे कलहकूट, शीघ्र कोटपाल को आशीर्वाद दे।"

कोटपाल जाति का शूद्र था। राजा का साला अवश्य था-कोटपाल भी था—पर था तो शूद्र। इसी से श्रोत्रिय ब्राह्मण उसे आशीर्वाद नहीं दे सकता था। श्रोत्रिय ब्राह्मण तो राजा ही को आशीर्वाद दे सकता है। इसी से उसने शिष्य को आशीर्वाद देने की आज्ञा दी।

शिष्य ने दूब जल में डुबोकर कोटपाल के सिर पर मार्जन किया। और आशीर्वाद दिया–

शत्रु बढ़े भय रोग बढ़े, कलवार की हाट पै ठाठ जुड़े।
भड़ुए रण्डी रस रङ्ग करें, निर्भय तस्कर दिन रात फिरे।

आशीर्वाद ग्रहण कर कोटपाल प्रसन्न हो गया। उसने कहा–"आज किधर सवारी चली? आजकल तो महाराज यज्ञ कर रहे हैं, नगर में बड़ी चहल-पहल है। ब्राह्मणों की तो चाँदी ही चाँदी है।"

गोरख ने असन्तुष्ट होकर कहा–"पर इस बार राजा मुझे भूल गया है। उसने मुझे इस सम्मान से वंचित करके अच्छा नहीं किया।"

"अरे ऐसा अनर्थ? तुम काशी के महामहोपाध्याय, श्रोत्रिय ब्राह्मण! और तुम्हें ही राजा ने भुला दिया!"

"तभी तो काशिराज का नाश होगा। कोटपाल, मैं उसे श्राप दूँगा।"

कोटपाल हँस पड़ा। हँसकर उसने कहा–"शाप, केवल इतनी-सी बात पर? पर मुझ पर कृपादृष्टि रखना देवता। और कभी इन चरणों की रज मेरे घर पर भी डालकर पवित्र कीजिए।"

फिर उसने ब्राह्मण का कन्धा पकड़कर कान के पास मुँह ले जाकर कहा–"बहुत बढ़िया पुराना मद्य गौड़ से आया है।"

गोरख श्रोत्रिय ब्राह्मण प्रसन्न हो गया। उसने हँसकर कहा–"अच्छा, अच्छा, कभी देखा जायगा।"

परन्तु कोटपाल ने आग्रह करके कहा–"कभी क्यों, कल ही रही।" फिर कान के पास मुँह लगाकर कहा–"हाँ उस सुन्दरी देवदासी का क्या रहा? क्या नाम था उसका?"

ब्राह्मण हँस पड़ा। उसने कहा–"उसे भूले नहीं कोटपाल, मालूम होता है—दिल में घर कर गई है। उसका नाम मंजुघोषा है।"

“वाह क्या सुन्दर नाम है। हाँ, तो मेरा काम कब होगा?”

“महाराज, सब काम समय पर ही होते हैं। जल्दी करना ठीक नहीं है।”

“फिर भी, कब तक आशा करूँ?”

इसी समय श्रेष्ठि जयमंगल ने आकर प्रथम ब्राह्मण को दण्डवत् की फिर कोटपाल को अभिवादन किया और हँसकर कहा–“मेरे मित्र महाराज शम्भुपाल देव हैं, और मेरे मित्र गोरख महाराज भी हैं।”

गोरख ने मुँह बनाकर कहा–“सावधान सेट्ठि, ब्राह्मण किसी का मित्र नहीं, वह भूदेव हैं, जगत्पूज्य है।”

जयमंगल ने हँसकर कहा–“ब्राह्मण देवता प्रणाम करता हूँ।”

गोरख ने शुष्क वाणी से शिष्य को सम्बोधन करके कहा–“दे रे आशीर्वाद।”

शिष्य ने घास के तिनके से, जलपात्र से जल लेकर सेठ के सिर पर छिड़ककर आशीर्वाद दिया।

कोटपाल का इस ओर ध्यान न था। उसने सेठ के निकट जाकर कहा-“कहो मित्र, कल तो तुम जुए में इतना रुपया हार गए पर चेहरे पर अभी भी मौज-बहार है।”

जयमंगल ने कहा-“वाह, रुपया-पैसा हाथ का मैल है मित्र, उसके लिए सोच क्या। जब तक भोगा जाय, भोगिए।”

गोरख ब्राह्मण ने बीच में बात काटकर कहा-“इसमें क्या सन्देह। संयम और धर्म के लिए तो सारी ही उम्र पड़ी है, जब इन्द्रियाँ थक जायेंगी तब वह काम भी कर लिया जायेगा।”

कोटपाल ने जोर से हँसकर कहा-“बस धर्म की बात तो गोरख महाराज कहते हैं। बावन तोला पाव रत्ती। अच्छा, भाई हम जाते हैं। नगर का प्रबन्ध करना है। परन्तु कल का निमन्त्रण मत भूल जाना।”

“नहीं भूलूँगा कोटपाल महाराज।”

कोटपाल के चले जाने पर उसने होंठ बिचकाकर कहा-“देखा तुमने सेट्ठि, कैसा नीच आदमी है। मूर्ख धन और अधिकार के घमण्ड में ब्राह्मण को निमन्त्रण का लोभ दिखाकर अपने नीच वंश को भूल रहा है। हम श्रोत्रिमय ब्राह्मण हैं। जानते हो सेट्ठि, इसकी जाति क्या है?”

सेठ ने इस बात में रस लेकर कहा-“नहीं जानता। क्या जाति है भला?”

“साला चमार है कि जुलाहा, याद नहीं आ रहा है।”

इसी समय सामने से चन्द्रावली को आते देखकर वह प्रसन्न हो गया। उसने सेठ के कन्धे को झकझोरकर कहा-“देखो सेट्ठि, बिना बादल के बिजली, पहिचानते हो?”

“कोई गणिका प्रतीत होती है।”

“अरे नहीं, चन्द्रावली देवदासी है।”

सेट्ठि ने हँसकर आगे बढ़कर कहा–“आह, चन्द्रावली, अच्छी तो हो?”

चन्द्रावली ने हँसकर नखरे से कहा–“आपकी बला से। आप तो एकबारगी ही अपने मित्रों को भूल गए।”

सेठ ने खींसे निपोर कर कहा–“वाह, ऐसा भी कहीं हो सकता है! यह मुख भी

भला कहीं भुलाया जा सकता है।''

''आपसे बातों में कौन जीत सकता है!''

चन्द्रावली ने घातक कटाक्षपात किया। सेठ ने अधिक रसिकता प्रकट करते हुए कहा-

''इस मुख को देखकर तो गूँगा भी बोल उठे।''

चन्द्रावली ने हँसकर सेठ से कहा–''कहिए, अब कब श्रीमान् मेरे घर पधार रहे हैं?''

''कहो तो अभी-''

''अभी नहीं, कल।''

''अच्छा'' सेठ ने हँसकर उत्तर दिया। चन्द्रावली ने गोरख की ओर मुँह करके कहा–''आप भी ब्राह्मण हैं?''

गोरख खुश हो गया। उसने कहा-''सिर केवल ब्राह्मण है।''

चन्द्रावली हास्य बखेरती हुई चली गई। गोरख कुछ देर उसी ओर देखता रहा। फिर उसने कहा–''बहुत सुन्दर है, क्यों सेट्ठि-क्या कहते हो?''

''है तो, परन्तु-''

''परन्तु क्या?''

''कहने योग्य नहीं।''

''कहो, कहो, क्या किसी ने तुम्हारा मन हरण किया है?''

''किया तो है।''

''वह कौन है?''

''है कोई अद्वितीय बाला।''

''वह है कहाँ भला?''

''मन्दिर में ही!''

''मन्दिर में?''

जयमंगल ने आनन्द में विभोर होकर कहा–''है, एक संन्ध्या समय मैं मन्दिर में गया था। आरती नहीं हुई थी। वहाँ सन्नाटा था। महाप्रभु भी नहीं आए थे। मैं भीतर चला गया। सहसा मुझे एक आहट सुनाई दी। देखा, एक फूल-सी सुकुमारी बैठी देवता का फूलों से श्रृंगार कर रही है। हम लोगों की आँखें चार हुईं। तभी से मेरे हृदय में वह बस गई। वाह, क्या सौन्दर्य था! विधाता ने सुन्दरता के कण सारे विश्व से समेटकर उसे रचा होगा। उसकी आँखों में आँसू थे, और उसके ओठ फड़क रहे थे।''

''क्या तुमने उसका नाम पूछा था?''

''जब मैंने उसके निकट जाकर पूछा–'सुन्दरी, तेरा नाम क्या है, और तुझे क्या दु:ख है,' तो वह बिना उत्तर दिये चली गई। परन्तु मुझे उस मोहिनी के नाम का पता चल गया था-वह मंजुघोषा थी।''

गोरख कुटिलतापूर्वक हँस दिया। उसने कहा–''समझा। जिसे देखो वही मंजुघोषा की रट लगा रहा है। सेट्ठी, उसकी आशा छोड़ दो।''

''यह तो न होगा मित्र, प्राण रहते नहीं होगा। भले ही प्राण भी देना पड़े।''

“ओ हो, यहाँ तक? तब तो मामला गम्भीर है। खैर, तो मैं तुम्हारी सहायता करूँगा।”

जयमंगल प्रसन्न हो गया। उसने मुहरों की एक छोटी-सी थैली ब्राह्मण के हाथ में थमाकर कहा :

“मैं तुम्हें मुँह माँगा द्रव्य दूँगा देवता।”

गोरख ने थैली अपनी टेंट में खोसते हुए हँसकर कहा–“तब आओ मन्दिर में।”

जयमंगल ने ब्राह्मण का हाथ पकड़ लिया। और दोनों आगे बढ़कर एक गली में घुस गए।

सारी ही बातें सुखदास ने छिपकर सुन ली थी। उसने समझ लिया कि अवश्य ही मंजुघोषा पर कोई नई विपत्ति आने वाली है। वह सावधानी से अपने को छिपाता हुआ उनके पीछे चला।

अँधेरी रात में

शयन-आरती हो रही थी। मन्दिर में बहुत-से स्त्री-पुरुष एकत्र थे। संगीत-नृत्य हो रहा था। भक्त गण भाव-विभोर होकर नर्तिकाओं की रूप माधुरी का मधुपान कर रहे थे। दिवोदास एक अँधेरे कोने में छिपा खड़ा था। वह सोच रहा था, शयन-विधि समाप्त होते ही मेरा कार्य सिद्ध होगा। कैसी दु:ख की बात है कि इन पाखंडियों के लिए मुझे भी छल-कपट करना पड़ रहा है। उसने देखा-दो अपरिचित पुरुष आकर उसके निकट ही छिपकर खड़े हो गये हैं। दिवोदास ने सोचा-ये लोग कौन हैं? और इस प्रकार छिपकर खड़े होने में इनकी क्या दुरभिसन्धि है। वह इतना सोच ही रहा था कि आगन्तुकों में से एक ने कहा-

''किन्तु मंजुघोषा तो यहाँ दिखाई नहीं दे रही है?''

मंजु का नमा सुनकर दिवोदास के कान खड़े हो गये। उसने सोचा-यह कोई नया षड्यन्त्र है। वह ध्यान से उनकी बातें सुनने लगा।

आगन्तुकों में एक गोरख ब्राह्मण था, दूसरा जयमंगल सेठ।

सेठ ने कहा–''क्या यह सच है कि महाप्रभु भी उस छोकरी पर मुग्ध हैं?''

गोरख ने उसका हाथ दबाकर कहा–''चुप-चुप, महाप्रभु इधर ही आ रहे हैं।

दोनों अन्धकार से निकलकर बाहर प्रकाश में आ खड़े हुए। सिद्धेश्वर को देखकर दोनों ने प्रणाम किया। सिद्धेश्वर ने हँसकर आशीर्वाद देते हुए कहा–''आज नगर की चहल-पहल छोड़कर श्रेष्ठि इस समय यहाँ कैसे?''

''महाराज, क्या यहाँ सब कुछ नीरस ही है?''

''जिसने कंचन-कामिनी का स्वाद ले लिया, उसे देव प्रसाद में क्या स्वाद मिलेगा?''

''गुरुदेव, जैसे बिना विरह के प्रेम का स्वाद नही मिलता, उसी प्रकार बिन विलास किए, शान्ति का अनुभव नहीं होता।''

''यह तो तुम्हारी भावुकता है श्रेष्ठि, जो कामना के अग्निकुण्ड में ईंधन डालेंगे शान्ति कहाँ मिलेगी?'' उसने गोरख की ओर तीखी दृष्टि से देखा।

जयमंगल ने कहा–''महाराज, विधाता ने भोगविलास के लिए जवानी और त्याग के लिए बुढ़ापा दिया है।''

सिद्धेश्वर ने हँसकर कहा–''हो सकता है श्रेष्ठि, जब तक समय है भोग लो। फूल सूख जायेगा। गन्ध हवा में मिल जायेगी। जगत् में दो ही मार्ग हैं। भोग और योग। तुम भोग के मार्ग पर हो, मैं योग के। अच्छा, अब जाता हूँ। चिरंजीव रहो।''

सिद्धेश्वर के जाने पर गोरख ने सिर उठाया। अब तक वह सिर नीचा किए खड़ा था। अब उसने कहा-ये साक्षात् कलियुग के अवतार हैं, श्रेष्ठि।''

जयमंगल ने हँसकर कहा–''मालूम तो यही होता है। परन्तु इनके तप और वैराग्य की तो बड़ी-बड़ी बातें सुनी हैं, वे क्या सब झूठी हैं?''

''आओ देखो।''

उसने संकेत से सेठ को पीछे आने को कहा। और एक पेचीदा तंग गली में घुस गया। उन दोनों के पीछे दिवोदास भी छिपता हुआ चला। इसी समय सुखदास भी उससे आ मिला।

एक कुंज के निकट पहुँच कर सिद्धेश्वर ने पुकारा :

''माधव!''

माधव ने सम्मुख आ प्रणाम किया। सिद्धेश्वर ने कहा :

''माधव, अभागे बौद्धों को धोखा देने और मेरी सभी गुप्त आज्ञाओं की तत्परता से पालन करने के बदले, मैंने तुम्हें भण्डार का प्रधान अधिकारी बनाने का निश्चय कर लिया है।''

''यह तो प्रभु की दास पर भारी कृपा है।''

''तुम जानते ही हो कि सुन्दरियों का कोमल आलिंगन, मेरी योग साधना है?''

''हाँ प्रभु।''

''मुझे कोई कुछ समझे, परन्तु तुमसे कुछ छिपाना नहीं चाहता। मैं अपनी चित्तवृत्ति के देवता को सुन्दरियों की बलि से सन्तुष्ट करता हूँ। तुम्हें मालूम है कि लिच्छवि राजकुमारी मंजुघोषा इस समय मेरी आँखों में है, मैं उसका रक्षक हूँ।''

माधव ने हँसकर कहा-''समझ गया प्रभु। अब रक्षण काल समाप्त हो गया। वह फल सावधानी से पाला गया है, अब पक गया है, महाप्रभु अब उसे भक्षण किया चाहते हैं।''

''ठीक समझे माधव, जिस तरह प्रभात की वायु फूल की कली को खिलाकर उसकी सुगन्ध ले उड़ती है, उसी तरह यौवन के प्रभात ने उस कली को खिला दिया है। अब उसकी सुगन्ध मेरे उपयोग में आनी चाहिए।''

गोरख ने जयमंगल का हाथ दबाया। और दिवोदास ने वस्त्र में छिपी छुरी को सम्भाला। सुखदास ने पीछे से उसके कान में कहा ''चुपचाप सब कृत्य देखो, जल्दी मत करो।''

माधव ने कहा–''तो इसमें क्या कठिनाई है प्रभु?''

''वह अभागा उस पर मोहित प्रतीत होता है। ध्यान रखना, ये भाग्यहीन मिथ्यावादी लोग, मन्दिर के भेद को न जानने पाएँ।''

''ऐसा ही होगा प्रभु, और क्या आज्ञा है?''

''आज आधी रात को, मैंने मंजुघोषा को महामन्त्र दीक्षा देने के लिए गर्भगृह में बुलाया है। इसी के लिए वह तीन दिन से व्रत और उपासना कर रही है। तुम उसे दो पहर रात बीते मेरे सोने के कमरे में ले आना समझे।''

''समझ गया प्रभु।''

''एक बात और।''

“क्या?”

“अन्धकूप पर कड़ा पहरा लगा दो। जिससे यह खबर सुनयना के कानों में न पड़ने पाए।”

“बहुत अच्छा।”

माधव एक ओर को चल दिया। और सिद्धेश्वर दूसरी ओर को।

गोरख ने कहा–“अब कहो।”

जयमंगल ने तलवार वस्त्र से निकालकर कहा–“रक्षा करनी होगी।”

दिवोदास ने आड़ से बाहर आकर कहा–“मैं तुम्हारी सहायता करूँगा।”

सुखानन्द ने बढ़कर कहा–“और मैं भी।”

जयमंगल ने कहा–“वाह, तब तो हमारा दल विजयी होगा।”

चारों जन कुछ सोच-सलाह कर, एक अँधेरी गली में घुस गए।

रंग में भंग

सिद्धेश्वर कमरे में गद्दी के ऊपर बैठा समाने खिड़की से चमकते हुए बहुत-से तारों और चन्द्रमा को देख रहा था। चौकी पर सामने एक ताँबे की तख्ती रखी थी। ऊपर कुछ अंक लिखे थे–उन्हें देख-देखकर वह एक भोजपत्र पर कुछ लकीरें खींच रहा था, फिर कुछ उँगलियों पर गिनता था। बीच-बीच में उसकी भृकुटि में बल पड़ जाते थे। आकाश में चन्द्रमा पर एक बादल का टुकड़ा छा गया। सिद्धेश्वर ने एकाग्र होकर उस ताम्रपत्र पर दृष्टि गड़ा दी। अन्त में व्याकुल होकर लेखनी फेंक दी। उसने आप ही बड़बड़ाते हुए कहा–

“वही एक फल। दुर्भाग्य, असफलता, दुर्घटना, रक्तपात। सब दुष्ट ग्रह मिल गए हैं। मंगल, बुध, शुक्र और शनि तथा चन्द्रमा चौथे स्थान में हैं। गुरु-केतु केन्द्र में, राहु अष्टम में है। जन्म से राहु पंचम है। परन्तु चाहे जो हो, मेरी शक्ति बड़ी है, मेरा मन्त्रबल ऊँचा है। मैं आशा नहीं छोड़ूँगा। सात अरब की सम्पदा और अनिन्द्य सुन्दरी मंजुघोषा त्यागने की वस्तु नहीं। मंजु मेरे अधीन है, परन्तु सम्पत्ति? (ताँबे की तख्ती पर दृष्टि डालकर) यह आधा बीजक है, आधा सुनयना ने कहीं छिपा रखा है।” वह उठकर बेचैन होकर टहलने लगा।

उसने फिर कहा–“चाहे जो हो, छल से या बल से, मैं उसे वश में करूँगा! परन्तु इतना विलम्ब क्यों हो रहा है? माधव उसे अभी तक लाया क्यों नहीं? कहीं उस पर मेरा कौशल तो प्रकट नहीं हो गया? नहीं, यह सम्भव नहीं।”

इसी समय एक विश्वस्त दासी ने आकर सूचना दी कि माधव और दासी मंजुघोषा चरण सेवा में आ रहे हैं।

सिद्धेश्वर ने प्रसन्न होकर कहा–“उन्हें आने दो।”

आगे मंजु, पीछे माधव ने आकर प्रणाम किया।

सिद्धेश्वर ने कहा–“माधव! इसे पवित्र देवी के कक्ष में ले जाओ, और पूजा का प्रबन्ध करो। मैं अभी आकर इसे महामन्त्र की दीक्षा दूँगा। (मंजु से) मंजु, आज तुम्हारा जीवन सफल होगा।”

माधव झुककर चल दिया, मंजु भी सिर झुकाकर चुपचाप पीछे–पीछे चली गई।

सिद्धेश्वर ने हाथ मलते हुए कहा–“अब कहाँ जाती है।”

वह अपने हाथ से ढाल-ढालकर मद्य पीने लगा।

माधव मंजु को लेकर गुप्त द्वार से उस अँधेरी टेढ़ी-मेढ़ी राह से चला। मंजु भयभीत हुई। उसने कहा–“यहाँ कहाँ लिए जाते हो?”

“पवित्र देवी तो वहीं है।”

“पर यहाँ तो घोर अन्धकार है।”
“तुम्हारे जाते ही वह आलौकिक हो जाएगा।”
“मुझे मेरे आवास में पहुँचा दो माधव।”
“आज नहीं, कल।”
“कल क्यों?”
“कल मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा।”
“इसका क्या मतलब है?”
“कल तुममें वह शक्ति आ जाएगी।”
“मैं नहीं समझी, माधव।”
“न समझना ही अच्छा है।”
“क्यों?”
“सेवक का धर्म समझाना नहीं, आज्ञा का पालन करना है।”
मंजु–क्या?

वे एक एकान्त कक्ष में पहुँचे, वहाँ बड़ी-बड़ी विशाल-विकराल मूर्तियाँ रक्खी हुई थीं। माधव ने उँगली से दिखाकर कहा–“वह देवी है... वहीं रहो। और जो कुछ पूछना हो आचार्य से पूछना।” मंजु कुछ देर चुपचाप खड़ी माधव को एकटक देखती रही!

माधव मंजु को वहीं खड़ी छोड़कर चला गया। मंजु वहाँ की भयानक मूर्तियों को देखकर भय से काँपने लगी। एकाएक गुप्त द्वार से सिद्धेश्वर ने प्रवेश किया।

सिद्धेश्वर ने मंजु के निकट आकर कहा–“सुन्दरी मंजुघोषा, तुम्हारे आने से इस पवित्र स्थान के सभी दीपक मन्द पड़ गए, समझती हो क्यों?”

मंजु ने नीची दृष्टि से कहा–“नहीं प्रभु।”

“तुम्हारी सुन्दरता से। तुम्हारे कोमल अंग के सुगन्ध ने यहाँ के सभी फूलों की सुगन्ध को मात कर दिया है।”

मंजु विरक्त भाव से चुप खड़ी रही। उसने लज्जा और संकोच से सिर झुका लिया।

सिद्धेश्वर ने मंजु का हाथ पकड़कर कहा–“मंजु, तुम मेरी बात नहीं समझीं?”

“नहीं प्रभु!” उसने हाथ खींचकर छुड़ा लिया।

“तुम भोली जो ठहरी, पहले इस पवित्र प्रसाद को पिओ।”

उसने मद्य डालकर पात्र मंजु के मुँह के पास लगा दिया, फिर बोला–“पिओ मंजु, यह देवता का प्रसाद है।”

मंजु ने निषेध किया। परन्तु सिद्धेश्वर ने उसे जबर्दस्ती पिला दिया।

पीछे स्वंय भी पी। मंजु भयभीत हो एक खम्भे के सहारे टिक गई।

सिद्धेश्वर ने कहा–“तुम्हारे सौन्दर्य का मद इस मद से बहुत अधिक है। समझीं मंजु!” उसने मंजु की ठोढ़ी छूकर कहा।

“प्रभो! आप गुरु हैं, ऐसी बातें न कीजिए।”

सिद्धेश्वर ने हँसकर कहा–“ठीक है, आओ अब महामन्त्र की दीक्षा दूँ।” उसने उसका हाथ पकड़ा और एक ओर को ले चला।

दिवोदास, जयमंगल, सुखानन्द और गोरख भी छिपते हुए पीछे-पीछे चले। जिस

कमरे में वे पहुँचे, उस कमरे में विलास की सब सामग्री उपस्थित थी। गुदगुदा पलंग था, बड़ी-बड़ी वीणाएँ, मद्य के स्वर्णपात्र आदि सामग्री उपस्थिति थी। कमरा खूब सजा था। फूलों की मालाएँ जगह-जगह टँगी थीं। सिद्धेवश्वर मंजु का हाथ पकड़े आया और पलंग की ओर संकेत करके कहा–''यहाँ बैठो प्यारी!''

मंजु यह सम्बोधन सुनकर चमक उठी। उसने अधीर होकर कहा–''प्रभु मुझे जाने दीजिए।'' वह उठ खड़ी हुई।

सिद्धेश्वर ने हाथ पकड़कर कहा–''जाती कहाँ हो प्यारी, मेरे हृदय में आकर बैठो।'' उसने खींचकर उसे आलिंगनपाश में बाँध लिया।

मंजु ने बलपूर्वक अलग होने की चेष्टा करते हुए कहा–''प्रभु, मैं आपकी पाली हुई पुत्री हूँ, छोड़िए! छोड़िए!!''

''बुद्धिमान जन अपने लगाए पेड़ का फल स्वंय खाते हैं, मैंने तुम्हें सींच सींचकर उसी क्षण के लिए बड़ा किया है।'' उसने बलपूर्वक खींचकर उसे छाती से लगा लिया।

मंजु ने बल प्रयोग करते हुए चीखकर कहा–''छोड़िए, छोड़िए, प्रभु, छोड़िए!''

''डरो मत मंजु, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ।''

''जाने दीजिए, छोड़िए।''

सिद्धेश्वर ने अब जरा कड़े स्वर में कहा–''पगली लड़की जानती है सिद्धेश्वर का मस्तक भूतेश्वर भगवान के साम से झुकता है। वही अब तेरे सामने झुक रहा है। मंजु, मुझे अपने यौवन का प्रसाद दे।'' वह मंजु को छोड़कर उसके पैरों के पास घुटने टेककर बैठ गया।

मंजु ने घबराकर लजाते हुए कहा–''उठिए प्रभु, यह आप क्या कर रहे हैं?''

''मुझे अपना प्यार दो, मंजु!''

''नहीं प्रभु, यह कभी नहीं हो सकता, मुझे जाने दीजिए।''

''तुम मेरे हृदय में बसी हो, जा कहाँ सकती हो प्रिये! कहो, तुम मेरी हो।''

उसने बलपूर्वक खींचकर उसे पुन: छाती से लगा लिया। मंजु ने क्रोध में भरकर जोर से उसे ढकेल दिया, वह गिरकर घायल हो गया। सिर से खून बहने लगा। उसने क्रोधित हो उठकर मंजु पर चोट करनी चाही, तभी अकस्मात् गुप्त द्वार खुल गया। दिवोदास और जयमंगल तलवार लिए घुस आए। और पीछे-पीछे सुखानन्द भी। इन सबको देखकर सिद्धेश्वर विमूढ़ हो गया।

सिद्धेश्वर-तुम कौन हो? (पहचान कर) पापिष्ठ बौद्ध भिक्षु और तुम अभागे युवक?

दिवोदास-मैं तुम्हारा काल हूँ। पापिष्ठ! पाखण्डी!

यह कहकर दिवोदास तलवार फेंककर सिद्धेश्वर से भिड़ गया। मल्ल युद्ध होने लगा। लड़ते-लड़ते एक पत्थर के खम्भे के पास दोनों जा पहुँचे। बीच-बीच में जयमंगल भी एकाध घूँसा सिद्धेश्वर को जमा देता था। मंजु खड़ी भयभीत देख रही थी।

उस खम्भे पर भयानक काली की मूर्ति थी। वहाँ पहुँचकर सिद्धेश्वर ने चिल्लाकर कहा–''अब माँ चण्डी, लो नरबलि।'' मूर्ति भयानक रीति से अट्टहास कर उठी। एक बार सब भयभीत हो गए। मंजु अधिक भयभीत हुई। दिवोदास भी डर गया। पृथ्वी काँपने लगी और सैकड़ों बिजलियाँ चमकती और गर्जती दीख पड़ने लगीं। देखते ही देखते वह मूर्ति धरती में धँसने लगी। और कक्ष में अग्नि की ज्वाला भभक उठी। मंजु मूर्छित हो गई।

सुखानन्द ने साहस कर आगे बढ़ और पैंतरा सँभाल कर सिद्धेश्वर पर चोट की। सिद्धदेश्वर मूर्छित होकर गिर पड़ा। दिवोदास ने उसके पंजे से छूटकर फुर्ती से मूर्छित मंजुघोषा को उठा लिया तथा एक ओर ले भागा। सुखदास ने भी नंगी तलवार ले उसका अनुगमन किया।

रहस्योद्घाटन

निरापद स्थान पर आकर सुखदास ने कहा–"अब यहाँ ठहरकर थोड़ा विचार कर लो भैया।"

परन्तु दिवोदास ने उत्तर दिया–"हमें यहाँ से भगा चलना चाहिए।"

"नहीं, अभी नहीं, देवी सुनयना का उद्धार भी हमें करना है?"

मंजु ने घबराकर पूछा–"क्या वे किसी विपत्ति में है?"

"उन्हें सिद्धेश्वर ने अन्धकूप में डाल दिया है।"

"किसलिए?"

"गुप्त रत्नकोष के बीजक की प्राप्ति के लिए।"

"किन्तु वह तो मेरे पास है।"

"कहाँ पाया?"

"देवी सुनयना ने दिया था।"

"तो तुम उसका सब भेद जानती हो?"

"हाँ, उन्होंने बताया है कि मैं लिच्छवि महाराज श्रीनृसिंह देव की पुत्री हूँ।"

"और देवी सुनयना कौन हैं? यह भी उन्होंने बताया?"

"वे मेरी माता की दासी और मेरी धाय माँ हैं।"

"देवी सुनयना तुम्हारी जन्मदात्री माँ और लिच्छविराज की पट्टराज महिषी सुकीर्ति देवी हैं।"

मंजु ने आश्चर्य और आनन्द से काँपते हुए कहा–"सच?"

"वे तुम्हारे ही कारण अपनी मर्यादा और प्रतिष्ठा को लात मारकर यहाँ पर गर्हित जीवन व्यतीत कर रही हैं।"

मंजु की आँखों में झर-झर मोती झरने लगे। उसके फूल-से होंठों से माँ-माँ की ध्वनि निकली।

दिवोदास ने उसे धैर्य बँधाते हुए कहा–"घबराओ मत! तुम अभी आवास में जाओ, अब सूर्योदय में विलम्ब नहीं है, दिन में वह पापिष्ठ तुम्हारा कुछ अनिष्ट न कर सकेगा। तथा तुम अकेली मत रहना, सबके साथ रहना। हम महारानी का उद्धार करके तथा उन्हें सुरक्षित स्थान पर पहुँचाकर तुमसे मिलेंगे। फिर कहीं भाग चलने पर विचार होगा।

"मैं भी तुम्हारे साथ चलूँ तो?"

"ठीक नहीं होगा। कार्य में बाधा होगी। तुम जाकर स्वाभाविक रूप से अपनी

नित्यचर्या करो, मानो कुछ हुआ ही नहीं।''

मंजु ने स्वीकार किया। वह अपने आवास की ओर आई। सुखदास और दिवोदास ने परामर्श किया।

सुखदास ने कहा–''मैंने प्रहरियों को मिला लिया है, वे महारानी को छोड़ देंगे। अब उन्हें लेकर कहाँ छिपाया जाय, यही सोचना है।''

''तो यह भी उन्हीं से परामर्श करके सोचा जायेगा। वही इसका ठीक समाधान कर सकेंगी।''

''तो फिर विलम्ब क्यों!'' दोनों ने अपने हाथ के शस्त्रों को सावधानी से पकड़ा और अन्धकार में एक ओर बढ़े। दिवोदास ने कहा–''वे दोनों कुत्ते क्या हुए?''

''वह धूर्त ब्राह्मण तो मेरे हाथ से बचकर भाग निकला-परन्तु सेठ को मैंने बाँधकर एक खूब सुरक्षित स्थान पर डाल दिया है।''

''तो यही अन्धकूप का द्वार है। तुम प्रहरी से बात करो।'' सुखदास ने प्रहरी से संकेत किया। उसने चुपके से द्वार खोल दिया। दोनों अन्धकूप में प्रविष्ट हुए। दुर्गन्ध और सील के मारे वहाँ साँस लेना भी दुर्लभ था।

सुखदास ने कहा–''क्या महारानी जाग रही हैं?''

''कौन है?''

''मैं सुखदास हूँ। मेरे साथ श्रेष्ठि पुत्र दिवोदास भी हैं।''

''शुभ है कि आप लोग सुरक्षित हैं। किन्तु मेरी मंजु?''

''वह सकुशल है। आप उसकी चिन्ता न करें महारानी। आप यहाँ से निकलिए।''

''निकलकर कहाँ जाऊँ?''

''यह हम परामर्श करके ठीक कर लेंगे।''

''यह ठीक न होगा। मेरी प्रतिज्ञा है कि काशिराज और इस धूर्त सिद्धेश्वर से बिना अपने पति का बदला लिए यहाँ से न जाऊँगी। परन्तु तुम मंजु को लेकर भाग जाओ। गुप्त स्थान मैं बताती हूँ।''

''कौन-सा?''

''क्या कोई और भी इस गुप्त बात को जानता है?''

''नहीं महारानी।''

''तो मंजु के पास गुप्त राजकोष का बीजक और ताली है। वहाँ पहुँचने पर आप लोगों को कोई न पा सकेगा।''

''उसका मार्ग?''

''वह बीजक बताएगा।''

''किन्तु आप?''

''मेरी चिन्ता मत करो, मुझमें अपनी रक्षा करने की पूरी शक्ति है। तुम मंजु को यहाँ से ले जाओ।''

''जैसी राजमाता की आज्ञा।''

''तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ पुत्र, मैं तुम्हें शीघ्र ही मिलूँगी।''

दोनों पुरुष ने फिर अधिक बात नहीं की। वे अन्धकूप से निकलकर छिपते हुए टेढ़ी-

मेढ़ी राह् को पार करते हुए चले। पूर्व में लाली फैल रही थी।

मन्दिर में

मन्दिर में पूजन की तैयारी हो रही थी। रुद्राभिषेक हो रहा था। विविध वाद्य बज रहे थे। काशिराज और सिद्धेश्वर यथास्थान खड़े थे। देवदासियाँ देवता का श्रृंगार कर रही थीं-मंजु आरती की माला सजाती हुई मन ही मन कह रही थीं–''देव! जीवन-भर जिस कार्य का अभ्यास किया, आज वह नीरस हो गया। तुम यदि सचमुच अन्तर्यामी हो तो तुमने मेरे मन की दशा समझ ली होगी, और तुम्हें मुझ पर दया आई होगी। मैंने जीवनभर तुम्हारी तन-मन-धन से सेवा की है, अब तुम मेरी इच्छा पूरी करो देव!''

उसने अश्रुपूर्ण नेत्रों से देवता की ओर देखा, और पूजा का थाल उठाया। वह दो कदम आगे बढ़ी। देखा, सम्मुख दिवोदास खड़ा है। मंजु के हृदय में आनन्द की लहर दौड़ गई। उसने एक बार घृणापूर्वक सिद्धेश्वर की ओर देखा, और वह उलटकर दिवोदास के सम्मुख जा पहुँची। उसने दिवोदास की आरती उतारकर देवता की माला भी उसके गले में डाल दी। यह देख सब लोग 'पूजा भ्रष्ट हो गई', 'पूजा भ्रष्ट हो गई', चिल्ला उठे। बाजे एकदम बन्द हो गए। सिद्धेश्वर आपे से बाहर होकर चीख उठे। काशीराज ने क्रुद्ध स्वर में कहा :

''मूर्खे! पूजा भ्रष्ट कर दी।''

किन्तु मंजु ने उधर देखा ही नहीं। उसने आनन्द विभोर होकर दिवोदास के निकट आकर कहा–''पतिदेव, पूजा सार्थक हुई न?''

''हाँ प्रिये।''

काशिराज ने क्रुद्ध होकर कहा–''दोनों को बाँध लो।''

राजाज्ञा का तुरन्त पालन हुआ।

मंजु को उसी के कमरे में बन्द कर दिया गया और दिवोदास को नदी के उस पार दुर्गम दुर्ग में बन्दी कर दिया गया।

मंजु की सखी लता उसके लिए भोजन लेकर आई तो मंजु ने कहा, 'सखी, क्या तू उनका कुछ समाचार जानती है?''

''जानती हूँ-पर सुनकर तुम्हें दुःख होगा।''

''फिर भी कह दे सखी।''

''मंजु, इस प्रेम में अपने को नष्ट न कर।''

''आह सखी, मैं प्यार का घाव खा बैठी हूँ।''

''किन्तु वह अज्ञात कुलशील भिक्षु है।''

"अज्ञात कुलशील नहीं वह धनंजय श्रेष्ठि का पुत्र है।"

"परन्तु उसे तो महाराज ने कान्तार दुर्ग में बन्दी कर दिया है।"

"हे भगवान्-कान्तार दुर्ग में?"

"वहाँ उसे प्राणान्त प्रायश्चित्त करने का आदेश दिया गया है। दोनों धूर्त आचार्य उसकी जान के ग्राहक बन बैठे हैं।"

मंजु ने कहा–"सखी, मेरी सहायता कर!"

"जो तू कहे।"

"मुझे वहाँ जाने दें।"

"कैसे?"

"तू मेरे लिए त्याग कर।"

"तेरे लिए मेरे प्राण भी उपस्थित हैं।"

"तो तू यहाँ मेरे स्थान में रह, मैं तेरे वस्त्र पहनकर निकल जाऊँगी।"

"तो तू जा।"

"पर जानती है, तेरी क्या गत बनेगी।"

"वे मेरा वध करेंगे, मैं सह लूँगी।"

"हाय सखी-कैसे कहूँ।"

"मेरी चिन्ता न कर।"

मंजु ने जल्दी-जल्दी सखी के वस्त्र पहने। अपने उसे पहनाए। भोजन की सामग्री हाथ में ली और बन्धन से बाहर हो गई। प्रहरी कुछ भी न जान सका।

मंजु चल दी। किसी ने उसे लक्ष्य नहीं किया। वह पागल की भाँति भागी चली जा रही थी। भूख, प्यास और थकान ने उसके कोमल गात्र को क्लान्त कर दिया। उसके पैरों में घाव हो गये और वह बारम्बार लड़खड़ाकर गिरने लगी। वह गिरती, उठती-और फिर भागती। घोर वन था। बड़ी तेज धूप थी। सामने भयानक विस्तार वाली नदी के उस पार, सूखी नंगी पहाड़ी पर ऊँचा सिर उठाए वह एकान्त दुर्ग था। वह साहस करके नदी में कूद पड़ी। लहरों के साथ डूबती-उतराती वह उस पार जा पहुँची।

उसकी शक्ति ने जवाब दे दिया। परन्तु वह चलती ही चली गई। दुर्गम पहाड़ पर चढ़ना-बड़ा दुस्साहस का कार्य था परन्तु प्रेम का बल उसे मिलता गया-वह दुर्ग द्वार पर पहुँच गई। दुर्ग का द्वार बन्द था। उसकी भारी लौह श्रृंखलाओं में मजबूत ताला पड़ा था। उसने व्याकुल दृष्टि से चारों ओर देखा-उस दुर्गम कान्तार दुर्ग में चिड़िया का पूत भी न था। उसने एक बार दुर्ग के चारों ओर चक्कर लगाया। अन्त में निराश हो थककर वह एक शिलाखण्ड पर पड़ गई। उसे नींद आ गई। न जाने वह कब तक सोती रही। जब उसकी आँखें खुलीं तो देखा-सूर्य अस्त हो रहा है, और एक वृद्ध चरवाहा उसके निकट खड़ा है।

वह हड़बड़ाकर उठ बैठी। वृद्ध चरवाहे ने कहा–"तुम कौन हो और यहाँ कैसे आईं?"

"मैं विपत्ति की मारी दुखित स्त्री हूँ बाबा, भाग्य-दोष से यहाँ आ फँसी हूँ।"

"परन्तु यहाँ सिंह रहता है, तुझे खा जायेगा। बस्ती दूर है, तू रात कहाँ व्यतीत करेगी?"

“मैं चाहती हूँ सिंह मुझे खा जाय?”

“परन्तु तेरे यहाँ आने का कारण क्या है?”

“एक पुरुष इस दुर्ग में बन्द भूखा मर रहा है।”

“तुझे किसने कहा?”

“मैं जानती हूँ। उसी के लिए मैं यहाँ आई थी। किन्तु भीतर जाऊँ कैसे?”

“भीतर ही जाना है तो मैं पहुँचा सकता हूँ, परन्तु वहाँ कोई मनुष्य नहीं है।”

“क्या तुम जानते हो बाबा?”

“मैं तो वहाँ नित्य आता-जाता हूँ।”

“क्या भीतर जाने की कोई और भी राह है।”

“वह मैंने अपने लिए बनाई है।” बूढ़ा चरवाहा हँस दिया।

“तो बाबा, मुझे वहाँ पहुँचा दो।”

“परन्तु रात होने में देर नहीं है, फिर मेरा भी गाँव लौटना कैसे होगा।”

“वहाँ एक मनुष्य भूखा मर रहा है बाबा।”

“तब चल, मैं चलता हूँ।”

दोनों टेढ़े-मेढ़े रास्ते से चलने लगे। मंजु में चलने की शक्ति नहीं रही थी। परन्तु वह चलती ही गई। अन्त में एक खोह में घुसकर चरवाहे ने एक पत्थर खिसकाकर कहा–“इसी में चलना होगा।” वह प्रथम स्वयं ही भीतर गया। पीछे मंजु भी घुस गई। थोड़ा चलने पर एक विस्तृत मैदान दीख पड़ा। दूर किसी अट्टालिका के भग्न अवशेष थे।

“वहाँ चले बाबा” मंजु ने उधर संकेत करके कहा। चरवाहे ने आपत्ति नहीं की। खंडहर के पास पहुँचकर मंजु जोर से दिवोदास को पुकारने लगी। उसकी ध्वनि गूँजकर उसके निकट आने लगी। परन्तु वहाँ कहीं किसी जीवित मनुष्य का चिह्न भी न था।

बूढ़े ने कहा–“मैंने तो तुमसे कहा था-यहाँ कोई मनुष्य नहीं है, अब रात को गाँव पहुँचना भी दूभर है, राह में सिंह के मिलने का भय है, पर मैं जा सकता हूँ। क्या तू यहाँ अकेली रहेगी? या गाँव तक चल सकती है?”

“बाबा, मैं यहीं प्राण दूँगी। आपका उपकार नहीं भूलूँगी। आप जाइए।”

“यहाँ तुझे अकेला छोड़ जाऊँ?”

“मेरी चिन्ता न करें-मेरा जीवन अब निरर्थक ही है।”

इसी समय उसे ऐसा भान हुआ, जैसे किसी ने जोर से साँस ली हो।

मंजु ने चौंककर कहा–“आपने कुछ सुना; यहाँ किसी ने साँस ली है।”

वह लपककर खोह में घुस गई। उसने देखा-एक शिलाखण्ड पर दिवोदास मूर्च्छित पड़ा है। चरवाहा भी पहुँच गया। उसने दूर ही से पूछा–“मर गया या जीवित है?”

मंजु ने रोते हुए कहा–“बाबा, यहाँ कहीं पानी है?”

“उधर है,” और वह निकट पहुँच गया।

उसने दिवोदास को ध्यान से देखा और कहा–“आओ, इसे उधर ही ले चलें। बच जायगा।”

दोनों ने दिवोदास की मूर्च्छित देह को उठा लिया, और जहाँ जल की पुष्करिणी थी वहाँ ले गए। यहाँ बाँधकर वर्षा का जल रोका गया था। थोड़ा जल पीने तथा मुँह और

आँखों पर छिड़कने से थोड़ी देर में दिवोदास को होश आ गया। उसने आँखें खोलकर मंजु को देखा-उसके होंठ से निकला–"मंजु प्रिये।"

मंजु उसके वक्ष पर गिरकर फफक-फफक कर रोने लगी।

दिवोदास ने धीमे स्वर से कहा–"मैं जानता था कि तुम आओगी, सो तुम आ गईं।" उसने मंजु को हृदय से लगा लिया। कुछ देर बाद कहा–

"अब मैं सुख से मर सकूँगा।"

"मरेंगे तुम्हारे शत्रु।" उसने दृढ़ता से उठकर दिवोदास का सिर अपनी गोद में रख लिया।

"प्यारी, तुमने मुझे जिला दिया।" दिवोदास ने कहा।

"मैंने नहीं प्रिय, इस देव पुरुष ने", मंजु ने उस चरवाहे की ओर संकेत किया। दिवोदास ने अब तक उसे नहीं देखा था। अब उसकी ओर देखकर कहा :

"तुम कौन हो भाई।"

"मैं चरवाहा हूँ, पास ही गाँव में रहता हूँ, यहाँ नित्य बकरी चराता हूँ। भीतर आने-जाने की राह यह मैंने अपने लिए बना ली थी। संध्या को जब मैं घर लोट रहा था इन्हें मूर्च्छित पड़ा देखा। इसी से रुक गया। लड़के को बकरी लेकर घर भेज दिया। सो अच्छा ही हुआ-दो-दो प्राणी बच गए।" बूढ़ा बहुत खुश था।

दिवोदास ने कहा–"बचा लिया तुमने बाबा, तुम उस जन्म के मेरे पिता हो। अब यहाँ मेरे पास आकर बैठो।" बूढ़ा भी वहीं बैठ गया। उसने कहा–"अब तो रात यहीं काटनी होगी। परन्तु खाने को तो कुछ भी नहीं मिल सकता। देखता हूँ, तुम दोनों भूखे हो।"

मंजु ने कहा–"मेरे साथ थोड़ा भोजन है, उससे हम तीनों का आधार हो जायगा।" उसने पोटली खोली। तीनों ने थोड़ा-थोड़ा खाकर पानी पिया। भोजन करने से दिवोदास में कुछ शक्ति आई। वह एक पत्थर के सहारे बैठ गया। चरवाहे ने कहा–"थोड़ी आग जलानी होगी, नहीं तो वन पशु का भय है। मैं ईंधन लाता हूँ।" और वह उठकर चला गया।

मंजु ने उसके गले में बाँहे डालकर कहा–"अब तुम तनिक हँस दो।"

"क्या मैं फिर कभी हँस भी सकूँगा?"

"हम सदैव हँसेंगे, गाएँगे, मौज करेंगे।" और वह दिवोदास से लिपट गई। दिवोदास ने कहा–"प्यारी, तुम्हारी इस स्नेह दान ने मेरे बुझते हुए जीवन-दीपक को बुझने से बचा लिया। और तुम्हारी मधुर वाणी ने मेरे सूखे हुए जीवन को हरा-भरा कर दिया।" उसने उसे अपने बाहुपाश में कसकर अगणित चुम्बन ले डाले।

चरवाहे ने एक गट्ठर लकड़ी लाकर उसमें आग लगा दी। और तीनों आदमी वहीं पृथ्वी पर लेट गए। मंजु पड़ते ही गहरी नींद में सो गई। वह बहुत थकी थी। दिवोदास भी दुर्बल था। वह भी सो गया। परन्तु चरवाहा बड़ी देर तक जागता रहा।

प्रात:काल होते ही नित्यकर्म से निवृत्त होकर तीनों ने सलाह की। दिवोदास ने वृद्ध का हाथ पकड़कर कहा–"मित्र, तुम मेरे आज से पितृव्य हुए। अब हम-तुम कभी पृथक् न होंगे। मेरे दुख-सुख में तुम्हारा साझा रहेगा।"

बूढ़े ने हँसकर कहा–"तुम चिन्ता न करो भाई। तुम्हारे बराबर ही मेरा लड़का है, और ऐसी ही लड़की भी है। तुम भी मेरे लड़के-लड़की रहे। गाँव चलो, बहुत जमीन है,

धान्य है, दूध है। खाओ-पिओ मौज करो। तुम्हें क्या चिन्ता!''

''किन्तु पितृव्य, हमारा कुछ कर्तव्य भी है। तुम्हें उसमें सहायता देनी होगी।''

''कहो, क्या करना होगा?''

''हमारे शत्रु हैं।''

''तो मेरे लड़के को बता दो, वह उनकी खोपड़ी तोड़ देगा।''

''परन्तु वे बड़े बलवान् हैं, काम युक्ति से लेना होगा।''

''फिर जैसे तुम कहो।''

''हमें छिपकर रहना होगा।''

''तो हमारे गाँव में रहो।''

''वहाँ नहीं छिप सकेंगे, राजसैनिकों को पता चल जायगा।''

''तब क्या किया जाय?'' मंजु ने प्रश्न किया।

''राजमाता ने जो आदेश दिया है वही।''

''ठीक है, तो मुझे एक बार मन्दिर में जाना होगा।''

''किसलिए?''

''ताली और बीजक लेने, परन्तु एक बात है।''

''क्या?''

''मेरे पास आधा ही बीजक है। शेष आधा सिद्धेश्वर के पास है। वह भी लेना होगा। बिना उसके हम उस कोषागार में नहीं पहुँच सकेंगे।''

''तब हमें एक बार काशी चलना होगा। तुम अपनी वस्तु लेना और मैं सिद्धेश्वर से वह बीजक लूँगा।''

बूढ़े ने कहा–''मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा।''

''तुम्हें अब हम नहीं छोड़ेंगे पितृव्य।''

''तो पहिले गाँव चलो। खा पीकर, टंच होकर रात को काशी चलेंगे।''

''यही सलाह ठीक है।''

तीनों व्यक्ति उसी खोह की राह निकलकर गाँव की ओर चल दिए।

सिद्धेश्वर का कोप

सिद्धेश्वर क्रोधपूर्ण मुद्रा में अपने गुप्त कक्ष में बैठे थे। इसी समय माधव ने रस्सियों से बाँधकर लिच्छवि राजमहिषी सुकीर्ति देवी को उनके सामने उपस्थित किया। सम्मुख आते ही सिद्धेश्वर ने कहा–"तुम्हें मालूम है देवी सुनयना, कि मंजु भाग गई है?"

"तो क्या हुआ, मन्दिर में अभी बहुत पापिष्ठा हैं?"

"परन्तु क्या तुमने उसके भागने में सहायता दी है?"

"दी, तो फिर?"

"मैं तुम्हें और उसे दोनों को प्राणान्त दण्ड दूँगा।"

"बड़ी सुन्दर बात है। जिसे राजरानी पद से च्युत कर विधवा और पतिता देवदासी बनाया-जिसकी बच्ची को पतित जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया और जिसे वासना की सामग्री बनाना चाहते थे-उसी को अब प्राणदण्ड भी दो।"

"चुप रहो सुनयना देवी!"

"क्यों चुप रहूँ? मैं ढोल पीटकर संसार को बताऊँगी कि मैं कौन हूँ, और तुमने मेरे साथ किया है!"

"तुम जो चाहो कहो। कौन तुम पर विश्वास करेगा?"

सुनयना ने चोली से एक छोटी-सी वस्तु निकालकर उसे दिखाई और कहा, "इसे तो तुम पहचानते हो सिद्धेश्वर, जानते हो, इसमें किसका खून लगा है? इसे देखकर तो लोग विश्वास कर लेंगे?"

उन वस्तु को देखकर सिद्धेश्वर भयभीत हुआ। उसने कहा :

"देवी सुनयना, इस प्रकार आपस में लड़ने-झगड़ने से क्या लाभ होगा! तुम मुझे उस खजाने का शेष आधा बीजक दे दो, मैं तुम दोनों को मुक्त कर दूँगा—बस।"

"प्राण रहते यह कभी नहीं होगा।"

"तो तुम्होर प्राण रहने ही न पावेंगे।"

"जिसने प्राण दिया है-वही उसकी रक्षा भी करेगा, तुम जैसे श्रृगालों से मैं नहीं डरती।"

"मैंने उसे पकड़ने के लिए सैनिक चर भेजे हैं। वह जहाँ होगी-वहाँ से पकड़ ली जायेगी और मैं तेरे सम्मुख ही उसे अपनी अंकशायिनी बनाऊँगा।"

सिद्धेश्वर ने आपे से बाहर होकर कहा–"माधव, ले जा इस सर्पिणी को और डाल दे अंधकूप में।"

माधव उसे लेकर चला गया। कुछ देर तक सिद्धेश्वर भूखे व्याघ्र की भाँति अपने कक्ष में टहलता रहा। फिर उसने बड़ी सावधानी से एक ताली अपनी जटा से निकाल लोहे की सन्दूक खोली और उसमें से एक ताम्र-पत्र निकालकर उसे ध्यान से देखा तथा फलक पर लकीरें खींचता रहा। कभी-कभी उसके होंठ हिल जाते और भृकुटि संकुचित हो जाती। परन्तु वह फिर उसे ध्यान से देखने लगता।

इसी समय उसे कुछ खटका प्रतीत हुआ। उसने आँखें उठाकर देखा तो दिवोदास नंगी तलवार लिए सम्मुख खड़ा था। सिद्धेश्वर उछलकर दूर जा खड़ा हुआ। उसने कहा–''तू यहाँ कैसे आया रे धूर्त भिक्षु?''

''इससे तुझे क्या?''

''क्या ऐसी बात?'' उसने खूँटी से तलवार उठाकर दिवोदास पर आक्रमण किया।

दिवोदास ने पैतरा बदलकर कहा–''मेरी इच्छा तेरा हनन करने की नहीं है।''

''परन्तु मैं तो तुझे अभी टुकड़े-टुकड़े करके भगवती चण्डी को बलि देता हूँ।''

सिद्धेश्वर ने फिर वार किया। परन्तु दिवोदास ने वार बचाकर एक लात सिद्धेश्वर को जमाई। सिद्धेश्वर औंधे मुँह भूमि पर जा गिरा। दिवोदास ने ताम्रपट्ट उठाया और अपने वस्त्र में रख लिया।

सिद्धेश्वर ने गरजकर कहा–''अभागे, वह पत्र मुझे दे!''

''वह तेरे बाप की सम्पत्ति नहीं है रे धूर्त।''

''तब ले मर'', उसने अन्धाधुन्ध तलवार चलाना प्रारम्भ किया। दिवोदास केवल बचाव कर रहा था, इसी से वह एक घाव खा गया। इस पर खीझकर उसने एक हाथ सिद्धेश्वर के मोढ़े पर दिया। सिद्धेश्वर चीखकर घुटनों के बल गिर गया।

इसी समय माधव तलवार लेकर कक्ष में कूद पड़ा। उसने पीछे से वार करने को तलवार उठाई ही थी, कि सुखदास ने उसका हाथ कलाई से काट डाला। माधव वेदना से मूर्च्छित हो गया। इसी समय सुयोग पाकर दोनों भाग निकले। भागते-भागते सुखदास ने कहा–''वहाँ-कुंज में बिटिया छिपी बैठी है। तुम उसे लेकर और दीवार फाँदकर वाम तोरण के पीछे आओ, वहाँ अश्व तैयार है। मैं उधर व्यवस्था करता हूँ।''

यह कहकर सुखदास एक ओर जाकर अन्धकार में विलीन हो गया। दिवोदास उसके बताए स्थान की ओर दौड़ चला।

संकेत पाते ही मंजु निकल आई। दिवोदास ने कहा :

''तुम्हारा कार्य हुआ?''

''हाँ! और तुम्हारा?''

''हो गया?''

''तब चलो।''

''किन्तु वह वृद्ध?''

''उन्हें मैंने आगे भेज दिया है।''

''तब चलो।'' दोनों काम तोरण के पृष्ठ भाग की ओर वृक्षों की छाया में छिपते हुए चले। दिवोदास एक वृक्ष पर चढ़ गया। उसने मंजु को भी चढ़ा लिया और दोनों दीवार फाँद गये। दिवोदास ने कहा–''यहाँ, अश्व तो नहीं है!''

‘‘पर रुकना निरापद नहीं, हमें चलना चाहिए।’’
‘‘चलो फिर, अश्व आगे मिलेंगे।’’
दोनों अन्धकार में विलीन हो गए।

कापालिक के चंगुल में

गहन अँधेरी रता में मंजु और दिवोदास ने निविड़ वन में प्रवेश किया। मंजु ने कहा–"माँ का कहना है कि वह जो सुदूर क्षितिज में दो पर्वतों के श्रृंग परस्पर मिलते दीखते हैं, उनकी छाया जहाँ एकीभूत हो हाथी की आकृति बनाती है, वहीं निकट ही उस गुप्त कोष का मुख द्वार है। इसलिए हमें उत्तराभिमुख चलते जाना चाहिये। विन्ध्य-गुहा को पार करते ही हम कौशाम्बी-कानन में प्रवेश कर जाएँगे।"

"परन्तु प्रिये, यह तो बड़ा ही दुर्गम वन है, रात बहुत अँधेरी है। हाथ को हाथ नहीं सूझता। बादल मँडरा रहे हैं। एक भी तारा दृष्टिगोचर नहीं होता। वर्षा होने लगी तो राह चलना एकबारगी ही असम्भव हो जायेगा।"

"चाहे जो भी हो प्रिय, हमें चलते ही जाना होगा। जानते हो, उस बाघ ने अपने शिकारी कुत्ते हमारे लिए अवश्य छोड़े होंगे। चले जाने के सिवा और किसी तरह निस्तार नहीं है।"

"यह तो ठीक है, पर मुझे केवल तुम्हारी चिन्ता है प्यारी, तुम्हारे कोमल पाद-पद्म तो कल ही क्षत-विक्षत हो चुके थे। तुम कैसे चल सकोगी?"

"प्यारे! तुम्हारे साथ रहने से तो शक्ति और साहस का हृदय में संचार होता है। तुम चले चलो।"

और वे दोनों निविड़ दुर्गम गहन वन में घुसते चले गये। घनघोर वर्षा होने लगी। बिजली चमकने लगी। वन-पशु इधर-उधर भागने लगे, आँधी से बड़े-बड़े वृक्ष उखड़कर गिरने लगे। कँटीली झाड़ी में फँसकर दोनों के वस्त्र फटकर चिथड़े-चिथड़े हो गये। शरीर क्षतविक्षत हो गया। फिर भी वे दोनों एक-दूसरे को सहारा दिए चलते चले गए।

अन्तत: मंजु गिर पड़ी। उसने कहा–"अब नहीं चल सकती।"

"थोड़ा और प्रिये, वह देखो उस उपत्यका में आग जल रही है। वहाँ मनुष्य होंगे। आश्रय मिलेगा।"

मंजु साहस करके उठी, परन्तु लड़खड़ाकर गिर पड़ी। उसने असहाय दृष्टि से दिवोदास को देखा।

दिवोदास ने हाथ की तलवार मंजु के हाथ में देकर कहा–"इसे मजबूती से पकड़े रहना प्रिये," और उसे उठाकर पीठ पर लाद ले चला।

प्रकाश धीरे-धीरे निकट आने लगा। निकट आकर देखा-एक जीर्ण कुटी है। कुटी के बाहर मनुष्य मूर्ति भी घूमती दीख पड़ी। परन्तु और निकट आकर जो देखा तो भय से

दिवोदास का रक्त जम गया। मंजु चीख मारकर मूर्च्छित हो गई।

उन्होंने देखा-कुटी के बाहर छप्पर के नीचे एक कापालिक मुर्दे की छाती पर पद्मासन में बैठा है। उसकी बड़ी-बड़ी भयानक लाल-लाल आँखें हैं। उसका रंग कोयले के समान काला है। उसकी जटाएँ और दाढ़ी लम्बी लटक रही है तथा धूल-मिट्टी से भरी है। कमर में एक व्याघ्र चर्म बँधा है। गले में मुण्डमाला है। सामने मद्यपात्र धरा है, आग जल रही है, लपटें उठ रही हैं, कापालिक अघोर मन्त्र पढ़-पढ़कर माँस की आहुति डाल रहा है। माँस के अग्नि में गिरने से लाल-पीली लपटें उठती हैं।

दिवोदास ने साहस करके मंजु को नीचे पृथ्वी पर उतार दिया और शंकित दृष्टि से कापालिक को देखने लगा।

कापालिक ने कहा–

''कस्त्वं?''

''शरणागत?''

''अक्षता सा?''

इसी बीच मंजु की मूर्च्छा जागी। उसने देखा-कापालिक भयानक आँखों से उसी की ओर देख रहा है। वह चीख मारकर दिवोदास से लिपट गई।

कापालिक ने अट्टहास करके कहा–''माभैः बाले!'' और फिर पुकारा :

''शार्ङ् गरव, शार्ङ् गरव?''

एक नंग-धड़ंग, काला बलिष्ठ युवक लंगोटी कसे, गले में जनेऊ पहने, सिर मुड़ा हुआ, हाथ में भारी खड्ग लिए आ खड़ा हुआ। उसने सिर झुकाकर कहा :

''आज्ञा प्रभु।''

''इन्हें महामाया के पास ले जाकर प्रसाद दे, हम मन्त्र सिद्ध करके आते हैं।'' शार्ङ् गरव ने खोखली वाणी से कहा–''चलो।''

दिवोदास चुपचाप उसके पीछे-पीछे चल दिया! मंजु उससे चिपककर साथ-साथ चली।

मन्दिर बहुत जीर्ण और गन्दा था। उसमें विशालाकार महामाया की काले पत्थर की नग्न मूर्ति थी। जो महादेव के शव पर खड़ी थी। हाथ में खांडा, लाल जीभ बाहर निकली थी। आठों भुजाओं में शस्त्र, गले में मुण्डमाल सम्मुख पात्रों में रक्त पुष्प तथा मद्य से भरे घड़े धरे थे। एक पात्र में रक्त भरा था। सामने बलिदान का खम्भा था। पास ही एक खांडा भी रक्खा था।

दोनों ने देखा, वहाँ शार्ङ् गरव के समान ही चार और दैत्य उसी वेश में खड़े हैं। मूर्ति के सम्मुख पहुँच शार्ङ् गरव ने कर्कश स्वर में कहा–''अरे मूढ़! महामाया को प्रणिपात कर।''

दिवोदास ने देवी को प्रणाम किया। मंजु ने भी वैसा ही किया। एक यमदूत ने तब बड़ा-सा पात्र दिवोदास के होंठों से लगाते हुए कहा–''पी जा अधर्मी, महामाया का प्रसाद है।''

''मैं मद्य नहीं पीता।''

''अरे अधर्मी, यह मद्य नहीं है, देवी का प्रसाद है, पी।'' दो यमदूतों ने जबर्दस्ती

वह सारा मद्य दिवोदास के पेट में उड़ेल दिया। भय से अभिभूत हो मंजु ने भी मद्य पी ली। तब उन यमदूतों ने उन दोनों को बलियूथ से कसकर बाँध दिया। फिर बड़बड़ाकर मन्त्र पाठ करने लगे।

मंजू ने लड़खड़ाती वाणी से कहा–''प्यारे, मेरे कारण तुम्हें यह दिन देखना पड़ा।''

''प्यारी, इस प्रकार मरने में मुझे कोई दु:ख नहीं।''

''परन्तु स्वामी, हम फिर मिलेंगे।''

''जन्म-जन्म में हम मिलेंगे, प्रिये-प्राणाधिके।"

इसी समय कापालिक ने आकर कहा–''प्राणियो, आज तुम्हारा अहोभाग्य है, तुम्हारा शरीर देवार्पण होता है।'' उसने रक्त से भरा पात्र उठाकर थोड़ा रक्त उनके मस्तक पर छिड़का फिर उनके माथे पर रक्त का टीका लगाया। एक दैत्य ने झटका देकर उनकी गर्दनें झुकायीं। उन पर कापालिक ने स्वस्ति का चिह्न बना दिया। उसके बाद उन दैत्यों ने सिन्दूर से वध्य-भूमि पर भैवरी-चक्र की रचना की। एक दैत्य भारी खांडा ले दिवोदास के पीछे जा खड़ा हुआ।

मंजु ने साहस करके चिल्लाकर कहा–''अरे पातकियो, पहिले मेरा वध करो, मैं अपनी आँखों से पति का कटा सिर नहीं देख सकती।''

कालापिक ने एक बड़ा-सा मद्य पात्र मुँह से लगाया और गटागट पी गया। फिर उसने गरजकर वार करने की आज्ञा दी।

परन्तु इसी क्षण एक चमत्कार हुआ। ब्रह्मराक्षस का खांडा हवा में लहराता ही रहा, और उसका सिर कटकर पृथ्वी पर आ गिरा।

कापालिक क्रोध और भय से थरथरा उठा। उसने कहा–''अरे, किसने महामाया की पूजा भंग की?''

सुखदास ने रक्त-भरा खड्ग हवा में नचाते हुए कहा–''मैंने, रे पातकी! अभी तेरा धड़ भी शरीर से जुदा करता हूँ।''

इसी बीच वृद्ध ग्वाले ने दिवोदास और मंजु के बन्धन खोल दिए। मुक्त होते ही दिवोदास ने झपटकर खांडा उठा लिया। उसने कापालिक पर तूफानी आक्रमण किया। परन्तु कापालिक में बड़ा बल था। उसने खांडे सहित दिवोदास को उठाकर दूर पटक दिया। इसी समय सुखदास का खड्ग उसकी गर्दन पर पड़ा। और वह वहीं लड़खड़ाकर गिर गया। वृद्ध ने भी एक यमदूत को भूमिशायी किया। शेष दो प्राण लेकर भाग गए। दिवोदास घाव खा गये थे। सुखदास ने हाथ का सहारा दे दिवोदास को उठाया। और बोला–''साहस करो भैया, यहाँ से भाग चलो।''

दिवोदास ने कन्धे पर मंजु को लाद लिया। दोनों व्यक्ति नंगी तलवार लिये साथ चले। वर्षा अब बन्द हो गई थी। आकाश स्वच्छ हो गया था। वे बराबर उत्तराभिमुख होते जा रहे थे। मद्य के प्रभाव से मंजु मूर्च्छित हो गई थी। दिवोदास के भी पाँव लड़खड़ा रहे थे। परन्तु वह साथियों के साथ भागा जा रहा था। मंजु उसकी पीठ से खिसकी पड़ती थी। सुखदास उन्हें सहारा दे रहा था। इसी समय एक ओर से दल अश्वारोही सैनिकों ने उन्हें घेरकर बन्दी बना लिया। सारा उद्योग विफल गया। बेचारे को बाँधकर ले चले। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सिद्धेश्वर के सैनिक थे।

बन्दी गृह में

चारों अपराधियों का विचार हो रहा था। उच्च स्वर्ण-पीठ पर आचार्य वज्रसिद्धि, सिद्धेश्वर और काशिराज उपस्थित थे। सम्मुख चारों अपराधी रस्सियों से बँधे खड़े थे। पीछे तलवार लिए सैनिक खड़े थे। दर्शकों की बड़ी भारी भीड़ एकत्र थी।

मंजुघोषा ने करुण स्वर में चिल्लाकर कहा :

''आर्यपुत्र, इनसे कह दो कि हम धर्मत: पति-पत्नी हैं। हमने देवता की साक्षी में विवाह किया है।''

''प्रिये, अधीर मत हो। देखो तो ये भण्ड पाखण्डी क्या निर्णय करते हैं।''

काशिराज ने कहा ''भिक्षु, तुम क्या कहना चाहते हो।''

''महाराज, यह मेरी विवाहिता पत्नी है और मैं श्रेष्ठि धनंजय का पुत्र दिवोदास हूँ। मेरी यह पत्नी लिच्छवि राजनन्दिनि मंजुघोषा है।''

वज्रसिद्धि ने कहा–''शातं पापं, तूने मुझसे प्रव्रज्या ली है, तू ऐसा कहकर भिक्षु धर्म से च्युत होता है।''

मंजु ने कहा-''प्रियतम, इनसे कह दो कि मैं तुम्हारे भावी पुत्र की माता हूँ, जो मेरे उदर में पोषण पा रहा है।''

सिद्धेश्वर-तू देवार्पित देवादासी है। क्या तूने ऐसा पातक किया है? इससे तो देवाधिष्ठान ही कलंकित हो गया।

मंजु-कलंकित किया मैंने या तुम जैसे धर्म ढोंगियों ने, जो जंगली पशु की भाँति खून के प्यासे हैं। तुम गाय की खाल ओढ़कर धर्म के ठेकेदार बने बैठे हो। धर्म की आड़ में आखेट करने वाले पेशेवर अपराधी हो, क्या सब खोलकर कह दूँ?

सिद्धेश्वर—महाराज, ये धर्मापराधी हैं। इनका विचार धर्मानुमोदित होना चाहिए, राजनियमानुसार नहीं। आप इसमें विक्षेप मत कीजिए, मैं इस दासी का प्रायश्चित्त विधान करूँगा।

फिर उसने सैनिकों से कहा–''अरे सैनिको, इस दासी को अभी ले जाओ, मैं इसके पाप के प्रायश्चित्त की समुचित व्यवस्था करूँगा।''

दिवोदास ने क्रोध से पैर पटककर कहा–''कदापि नहीं महाराज, मैं आपको सावधान करता हूँ कि लिच्छविराज नन्दिनी का यदि बाल भी बाँका हो गया तो आपके राज्य का खण्ड-खण्ड हो जायेगा।''

काशिराज-युवक, तुम बड़े उद्धत्त प्रतीत होते हो, काशीराज की मर्यादा को यदि

तुम नहीं जानते तो चुप रहो।

फिर उन्होंने वज्रसिद्धि की ओर दृष्टि करके कहा–''आचार्य, आपके भिक्षु ऐसा ही विनय सीखते हैं?''

वज्रसिद्धि ने कहा–''महाराज, मैं उसका धर्मानुशासन करूँगा, अरे भिक्षुओ! उस उन्मत्त भिक्षु को ले जाओ।''

फिर उसने काशिराज से कहा–''महाराज, अब आप यज्ञ सम्पूर्ण कीजिए। कामना करता हूँ कि उसमें बाधा न उपस्थित हो।''

दिवोदास को भिक्षुगण बाँधकर एक ओर तथा मंजु को सैनिक दूसरी ओर ले चले। मंजु ने कहा–''प्राणनाथ, नदी तीर की वह प्रतिज्ञा याद रखना।''

दिवोदास ने कहा–''उसे जीते जी नहीं भूलूँगा।''

''तुम्हें आना होगा, कहो आओगे?''

''आऊँगा प्रिये, आऊँगा।''

''तो मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगी।''

''मैं प्राणों पर खेलकर भी आऊँगा।''

दोनों को दो भिन्न-भिन्न दिशाओं में खींचकर ले जाया गया। सुखदास और वृद्ध ग्वाला रह गए। सुखदास ने कहा–''मैं भी भिक्षु हूँ, मेरा धर्मानुशासन आचार्य करेंगे।''

आचार्य ने कहा–''इन दोनों अपराधियों को भी महाराज मेरे ही सुपुर्द कर दें।''

काशिराज ने स्वीकार किया। आचार्य उठकर चल दिए। आवास पर आने पर सुखानन्द ने कहा–''मैं एक आवश्यक निवेदन एकान्त में करना चाहता हूँ।''

आचार्य ने एकान्त में ले जाकर कहा–''क्या करना चाहते हो तुम?''

''आचार्य, मैं निरपराध हूँ, और यह वृद्ध भी।''

''तू निरपराध कैसे है?''

''आचार्य के विरुद्ध सिद्धेश्वर महाराज ने जो षड्यन्त्र रचा था-मैं उसी की छानबीन कर रहा था, आचार्य? मुझे अपना कार्य करने दीजिए।''

''कौन-सा कार्य।''

''आचार्य उस देवदासी को यहाँ से ले जाना चाहते हैं न!''

''चाहता तो हूँ।''

''पर सिद्धेश्वर की उस पर कुदृष्टि है।''

''यह मैं देख चुका हूँ।''

''परन्तु मैं उसे यहाँ से उड़ा ले चलूँगा।''

''किस प्रकार?''

''यह मुझ पर छोड़ दीजिए आचार्य।''

''किन्तु धर्मानुज जो है।''

''वह तो आपके अधीन है आचार्य, वह कर क्या सकता है!''

''और यह बूढ़ा मूर्ख कौन है?''

''एक गँवार है आचार्य, लोभ-लालच देकर अपनी सहायता के लिए रख लिया है।''

“तो तुम दोनों को मुक्त करता हूँ, कार्य करो।”

“किन्तु आचार्य, केवल मुक्ति ही नहीं। स्वर्ण भी चाहिए।”

“स्वर्ण भी ले भद्र, पर उस दासी को निकाल ले चल।”

“यह कौन-सी बड़ी बात है। कह दूँगा, मैं उस भिक्षु का सन्देशवाहक हूँ, उसी ने तुझे बुलाया है। हँसती-खेलती चली आएगी। उसने मुझे उसके साथ देखा भी है।”

“इसके बाद?”

“इसके बाद जैसा आचार्य चाहें।”

“तो भद्र, तू चेष्टा कर।”

“आचार्य, मुझे इस मूर्ख धर्मानुज से भी मिलते रहने की अनुमति दी जाय।”

“किसलिए?”

“उसे बहका-फुसलाकर एक पत्र उस दासी के नाम लिखा सकूँ तो कार्य जल्द सिद्ध होगा।”

“तो तुझे स्वतन्त्रता है।”

“आचार्य, फिर तो काम सिद्ध हुआ रखा है।” वह सिर हिलाता हुआ वृद्ध चरवाहे के साथ एक ओर को रवाना हो गया।

प्रसव

कई मास तक काशिराज का यज्ञानुष्ठान चलता रहा। इस बीच मंजु और देवी सुनयना अन्धकूप में पड़ी रहीं। उन्हें बाहर निकालने का सुयोग सुखदास को नहीं मिला। परन्तु ज्यों ही यज्ञ समाप्त हुआ तथा आचार्य वज्रसिद्धि काशी से विदा हुए, सुखदास की युक्ति और उद्योग से मंजु और देवी सुनयना अन्धकूप से मुक्त होकर भाग निकलीं। परन्तु इस विपत्ति में एक दूसरी विपत्ति आ खड़ी हुई। मंजु को प्रसव वेदना होने लगी। देवी सुनयना ने सुखदास से कहा–"अब तो कहीं आश्रय खोजना होगा। चलना सम्भव ही नहीं है।" निरुपाय मंजु को एक वृक्ष के नीचे आश्रय दे सुखदास और वृद्ध चरवाहा दोनों ही आहार और आश्रय की खोज में निकले।

परन्तु इस बीच ही में मंजु शिशु-प्रसव करके मूर्च्छित हो गई। यह दशा देख देवी सुनयना घबरा गईं। उन्होंने साहस करके शिशु की परिचर्या की तथा मंजु की जो भी सम्भव सुश्रूषा हो सकती थी, करने लगी। मंजु की दशा बहुत खराब हो रही थी। थकान, भूख और शोक से वह पले ही जर्जर हो चुकी थी, अब इतना रक्त निकल जाने से उसके मुँह पर जीवन का चिह्न ही न रहा। सुनयना यह देख डर गई। उसने यत्न से उसकी मूर्च्छा दूर की। होश में आकर मंजु एकटक माँ का मुँह देखने लगी। फिर बोली–"माँ, अब उनके दर्शन तो न हो सकेंगे?"

"क्यों नहीं बेटी!"

"उन्होंने कहा था–'जब पुत्र का जन्म होगा, मैं आऊँगा।' "

कुछ रुककर पुन: बोली–"पर उनके आने के पहले तो हमीं वहाँ चल रहे हैं।"

"नहीं जानती माँ, मैं कहाँ जा रही हूँ, किन्तु मेरा एक अनुरोध रखो माँ।"

"कह बेटी।"

"यदि मेरी मृत्यु हो जाय, और वे न आयें तो, जैसे बने, बच्चे को उनके पास अवश्य पहुँचा देना। और यह सन्देश भी कि तुम्हारे आने की आशा में मंजु अब तक जीवित रही। तुम्हारे निराश प्रेम का फल तुम्हारे लिए छोड़ गई।"

"बेटी, इतना धीरज न छोड़ो।"

"माँ! कदाचित् यह अस्तगत सूर्य की स्वर्ण-किरण मेरी मुक्ति का सन्देश लाई है।"

"अरी बेटी, ऐसी अशुभ बात मत कहो, तुम फलो-फूलो। और मैं इन आँखों से तुम्हें देखूँ। इसलिए न मैंने अब तक अपने जीवन का भार ढोया है।"

"माँ, मैं बहुत जी चुकी, बहुत फली-फूली, और मैंने संसार को अच्छी तरह

देखभाल लिया। मेरा जीवन उस फूल की भाँति रहा, जो सूर्य की किरणों को छूकर खिल उठा, और उसी के तेज में झुलसकर सूख गया।''

सुनयना रोने लगी।

मंजु ने कहा–''माँ, दुखी न हो, इस फूल की पंखुड़ियाँ झर जायेंगी, और झंझा वायु उन्हें उड़ाकर कहाँ की कहाँ ले जाएगी। आह! सूर्य आज भी अस्त हो गया। वे न आए, न आए। अन्धकार बढ़ा चला आ रहा है। यह जैसे मेरे जीवन पर पर्दा डाल देगा। कदाचित् मेरे जीवन-दीपक के बुझने का समय आ गया।'' वह मूर्च्छित होकर निर्बल हो गई। सुनयना ने घबरा कर कहा–''मंजु, आँखें खोलो बेटी, इस फूल से सुकुमार बच्चे को देखो।''

मंजु ने आँखें खोलकर टूटे-फूटे स्वर में कहा–''नहीं आए, इस अपने नन्हे को देखने भी नहीं आये! आह! कैसा प्यारा है नन्हा, आनन्द की स्थायी मूर्ति, माँ उसे मेरे और पास लाओ।''

''वह तो तुम्हारे पास ही है बेटी।''

''और पास, और पास, और, और...'' वह बेसुध हो गई। फिर उसने आँख खोलकर बच्चे को देखकर कहा–''वैसी ही आँखें हैं, वैसे ही होंठ,'' उसने बच्चे का मुँह चूम लिया, और हृदय से लगा लिया।

इसके बाद ही उसकी आँखें पथरा गई। और चेहरा सफेद हो गया। श्वास की गति भी रुक गई। सुनयना देवी धाड़ मारकर रो उठीं। उन्होंने कहा–''आह, मेरी बेटी, तू तो बीच मार्ग में ही चली-मेरी सारी तपस्या विफल हो गई।''

परन्तु देवी सुनयना को इस विपत्काल में रोकर जी हलका करने का अवसर भी न मिला। उन्हें निकट ही अश्वारोहियों के आने का शब्द सुनाई दिया। अब वे क्या करें? उनका ध्यान बच्चे पर गया। उसे उठाकर उन्होंने अपनी छाती से लगा लिया। एक बार उन्होंने मंजु के निमीलित नेत्रों की ओर देखा। घोड़ों की पदध्वनि निकट आ रही थी।

उन्हें मंजु का अनुरोध याद आया और हृदय में साहस कर उन्होंने अपना संकल्प स्थिर किया।

उन्होंने कहा–''विदा बेटी तुझे मैं माता वसुन्धरा को सौंपती हूँ, और तेरा अनुरोध पालन करने जा रही हूँ।'' उन्होंने वस्त्र से मंजु का मुँह ढाँप दिया और बालक को छाती से लगाकर एक ओर चलकर अन्धकार में विलीन हो गई।

दुस्सह सम्वाद

दिवोदास को संघाराम के गुप्त बन्दी गृह में लाकर रक्खा गया। उस बन्दीगृह में ऊपर छत के पास केवल एक छेद था, जिसके द्वारा भोजन और जल बन्दी को पहुँचा दिया जाता था। उसी छेद द्वारा चन्द्रमा की उज्ज्वल किरणें बन्दीगृह में आ रही थीं। उसी को देखकर दिवोदास कह रहा था–''आह, कैसी प्यारी है यह चन्द्रकिरण, प्यारी की मुस्कान की भाँति उज्ज्वल और शीतल?''

उसने पृथ्वी पर झुककर वह स्थल चूम लिया–''बाहर चाँदनी छिटक रही होगी। रात दूध में नहा रही होगी। परन्तु मेरा हृदय इस बन्दीगृह के समान अन्धकार से परिपूर्ण है।''

वह दोनों हाथों से सिर थामकर बैठ गया। इसी समय एक खटका सुनकर वह चौंक उठा। बन्दीगृह का द्वार खोलकर पहरेदार ने आकर कहा–''यह स्त्री तुमसे मिलना चाहती है, परन्तु जल्दी करना। भन्ते, मैं अधिक प्रतीक्षा नहीं करूँगा।''

काले वस्त्रों में आवेष्टित एक स्त्री उसके पीछे थी, उसे भीतर करके प्रहरी ने बन्दीगृह का द्वार बन्द कर लिया।

दिवोदास ने कहा–''कौन है?''

''यह अभागिनी सुनयना है।''

''माँ, तुम आई हो?''

''बड़ी कठिनाई से आ पाई हूँ दिवोदास, तुम न आ सके न!''

''न आ सका, किन्तु मेरा पुत्र?''

''पुत्र प्रसव हुआ, किन्तु तुम झूठे हुए बेटे।''

''हाँ माँ, मंजु से कहो, वह मुझे दण्ड दे।''

''उसने दण्ड दे दिया, बच्चे।''

''तो माँ, मैं हँसकर सह लूँगा, कहो क्या दण्ड दिया है?''

''सह न सकोगे।''

''ऐसा दण्ड है?''

''हाँ पुत्र।''

''नहीं, ऐसा हो नहीं सकता, मंजु मुझे दण्ड दे और मैं सह न सकूँ? सहकर हँस न सकूँ तो मेरे प्यार पर भारी कलंक होगा माँ।''

''कैसे कहूँ?''

“कहो माँ?”

“सुन न सकोगे।”

“कहो-कहो।”

“उसने अपने प्राण दे दिए।”

“प्राण दे दिए?” दिवोदास ने पागल की भाँति चीत्कार किया।

“हाँ, पुत्र, हम बन्दीगृह से मुक्त होकर भागे जा रहे थे। मार्ग ही में उसने एक वृक्ष के नीचे पुत्र को जन्म दिया, और फिर मुझसे एक अनुरोध करके वह विदा हुई।”

“क्या अनुरोध था माँ।”

“यही, कि यदि मेरी मृत्यु हो जाय तो मेरे पुत्र को उन तक पहुँचा देना।”

“तो मेरा पुत्र?”

“वह मैंने खो दिया।”

“खो दिया?”

“राह में मैं भूख और प्यास से जर्जर हो सो गई। जब आँख खुली तो शिशु न था, कौन जाने उसे कोई वनपशु उठा ले गया था...” सुनयना आगे कुछ न कहकर फूट-फूटकर रो उठी।

“मेरे पुत्र को तुमने खो दिया माँ, और उसने प्राण दे दिए!! खूब हुआ।” दिवोदास अट्टहास करके हँसने लगा। “हा, हा, हा, प्राण दे दिए, खो दिया।” उसने फिर अट्टहास किया और काष्ठ के कुन्दे की भाँति अचेत होकर भूमि पर गिर गया।

इसी समय प्रहरी ने भीतर आकर कहा–“बस, अब समय हो गया। बाहर आओ।” देवी सुनयना संज्ञाहीन-सी बाहर आईं और एक वृक्ष के नीचे भूमि पर पड़ गई।

प्रेमोन्माद

दिवोदास पागल हो गया है। यह सन्देश पाकर आचार्य ने उसे बन्दी गृह से मुक्त कर दिया। अब वह निरीह भाव से संघाराम में घूमने लगा। कोई उससे घृणा करता, कोई उस पर दया करता। उसके वस्त्र और शरीर गन्दे और मलिन हो गए थे। दाढ़ी बढ़कर उलझ गई थी। भिक्षु उसकी खिल्ली उड़ाते थे। कुछ उसे चिढ़ा देते थे। परन्तु दिवोदास इन सब बातों पर ध्यान ही नहीं देता था। वह जैसे किसी अतीत काल में जीवित रह रहा था।

दिवोदास अति उदास, गहरी चिन्ता में पागल जैसा एक शिलाखण्ड पर बैठा था। वह कभी हँसता, कभी गुनगुनाता था। उसके हाथ में एक गेरू का टुकड़ा था, उससे वह जल्दी-जल्दी मंजुघोषा का चेहरा बना रहा था, चेहरा बनाकर हँसता था, उसे प्यार करता था, उससे बातें करता था, एक वृक्ष को लक्ष्य करके उन्मत्त भाव से देखता था। वहाँ उस वृक्ष में उसे मंजुघोषा दृष्टि पड़ रही थी।

दिवोदास-हाथ फैलाकर दीन भाव से बोल उठा–"आओ देखो, प्यारी, आओ, मुझे क्षमा करो, मैं नहीं आ सका।" उसने देखा-मूर्ति मुस्कराने लगी। उसके होंठ हिलने लगे और दो बूँद आँसू उसकी आँखों से टपक पड़े। उसने उँगली उठाकर कहा–"झूठे।" पागल दिवोदास उससे लिपटने को दौड़ा और टकराकर गिर पड़ा। मूर्ति गायब हो गई। उसने उठकर कहा–"आह! झूठा, झूठा, सचमुच मैं झूठा हूँ।" उसने सामने एक शिलाखण्ड की ओर देखा। वहाँ मंजु बैठी मुस्करा रही थी। वह दौड़ा, मूर्ति उसी भाव से वही शब्द कहती हुई गायब हो गई। दिवोदास पत्थर से टकराकर फिर गिर पड़ा। फिर उठकर 'मंजु-मंजु' चिल्लाने लगा। जिस वस्तु पर उसकी नजर जाती, वहीं उसे मंजु की मूर्ति वही संकेत करके, वही शब्द कहकर गायब हो जाती। वह पागल की तरह दौड़ता और टक्करें खाकर गिरकर घायल हो जाता। वह क्षत-विक्षत और जर्जर हो गया। उसी समय आचार्य वज्रसिद्धि उसके निकट आए।

वज्रसिद्धि कुछ देर उसकी दुर्दशा देख बोले–"पुत्र, यह तुम क्या कर रहे हो?"

दिवोदास ने आँखें फाड़कर बड़ी देर तक वज्रसिद्धि को देखा और वज्रसिद्धि के निकट आकर कहा-"प्रिय मंजु, क्या तुमने मुझे क्षमा कर दिया!" और वह वज्रसिद्धि से लिपट गया।

वज्रसिद्धि ने उसे पीछे धकेलकर कहा–"भिक्षु, सावधान! देखो, मैं संघस्थविर आचार्य वज्रसिद्धि हूँ।"

दिवोदास आचार्य को देखकर, काँपता हुआ हटकर खड़ा हो गया और

कहा–“आचार्य वज्रसिद्धि क्या तुम मंजु का सन्देश लाए हो? क्या वह आ रही है?”

“भिक्षु, तुम पागल हो गए हो।”

“पागल, प्रेम का पागल, मैं पागल हो गया हूँ!”

(कठोर वाणी से) “मेरे साथ आओ।”

“क्या तुम मुझे मंजु के पास ले जा रहे हो?”

“आओ।”

वज्रसिद्धि ने उसे अपने पीछे आने का संकेत किया। और चल दिया। दिवोदास भी पीछे-पीछे चल दिया। वह वज्रतारा के मन्दिर में जा पहुँचे।

वज्रसिद्धि ने वज्रतारा की प्रतिमा के आगे पहुँच, दिवोदास की ओर कड़ी दृष्टि से देखा और कहा–“भिक्षु, वज्रतारा को प्रणाम करो।”

दिवोदास ने प्रतिमा में भी मंजु की वही मूर्ति देखी और कहा–“प्यारी, तुम आ गई? आओ। मैं नहीं आ सका। इससे क्या तुम नाराज हो?” वह दौड़कर मूर्ति से लिपट गया।

“सुनो! सुनो!!”

“सब सुन रहा हूँ। वह कुछ कह रही है। वह कुछ कहना चाहती है।” वह ध्यान से फिर प्रतिमा को देखने लगा। उसे प्रतीत हुआ, मंजु कुछ संकेत कर रही है, दिवोदास ने उधर हाथ फैला दिए।

वज्रसिद्धि ने दिवोदास को झकझोरकर कहा–“सुनो, तुम्हें वज्रतारा की मूर्ति बनानी होगी। हमें मालूम हुआ है, तुम कुशल चित्रकार हो गए हो।”

दिवोदास ने भाव निमग्न-सा होकर कहा–“मैं अभी प्यारी की मूर्ति बनाता हूँ।”

उसने झट क्षण-भर में गेरू से दीवार पर मंजु की ठीक सूरत बना दी। और फिर रो-रोकर कहने लगा–“क्षमा करो, मंजु, प्रिये, क्षमा करो।”

वज्रसिद्धि ने क्रुद्ध होकर कहा–“तुम्हें वज्रतारा की मूर्ति बनानी होगी। इसके लिए दो मास तक तुम्हें एकान्त में रहना होगा।”

उन्होंने एक भिक्षु से कहा–“गोपेश्वर, तुम इसको सब व्यवस्था समझाकर, सब प्रबन्ध कर दो।” इतना कह आचार्य चले गए।

प्रतिमा

दिवोदास की छेनी खटाखट चल रही थी। भूख-प्यास और शीत-ताप उसे नहीं व्याप रहा था। अपने शरीर की उसे सुध नहीं थी। वह निरन्तर अपना काम कर रहा था। छेनी पर हथौड़े की चोटें पड़ रही थीं, और शिलाखण्ड में से मंजु की मूर्ति विकसित होती जा रही थी। वह सर्वथा एकान्त स्थल था। वहाँ किसी को भी आने की अनुमति न थी। वह कभी गाता, कभी गुनगुनाता, कभी हँसता और कभी रोता था। कभी करुण स्वर में क्षमा माँगता, कभी मूर्ति से लिपट जाता। उसकी तन्मयता, तन्मयता की सीमा को पार कर गई थी। जैसे वह मूर्ति में मूर्तिमय हो चुका हो।

मूर्ति बनकर तैयार हो गई। दिवोदास के शरीर में केवल हड्डियों का ढाँचा मात्र रह गया था। उसके दाढ़ी और सिर के बालों ने उलझकर उसकी सूरत भूत के समान बना डाली थी। परन्तु उस एकान्त अनुष्ठान में कोई उसके पास नहीं आ पाता था।

वह बड़ी देर तक मूर्ति के मुख को एकटक देखता रहा। वह मुँह हूबहू मंजु का मुँह था।

उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह मुँह मुस्करा रहा है। उसे उसके ओठ हिलते दीख पड़े। उसने जैसे सुना कि उन ओठों में से एक शब्द बाहर हुआ, 'झूठे'। उसकी आँखों में आँसू भर आए। उसने मूर्ति के पैरों में गिरकर कहा–''मुझे क्षमा करो मंजु, मैं नहीं आ सका।'' पर तुमने मेरा पुत्र भी तो खो दिया, दिवोदास कोप कर धरती पर गिर पड़ा। और अन्त में द्वार तोड़ चिल्लाता हुआ गहन वन में भाग गया!

वज्रतारा पूजा महोत्सव पर्व था। सहस्रों भिक्षु एकत्रित थे। संघाराम विविध भाँति सजाया गया था। दूर-दूर से श्रद्धालु श्रावक, गृहस्थ और श्रेष्ठिजन आए थे। बीच प्रांगण में स्वर्ण-मण्डित रथ था। उस पर वस्त्र में आवेष्टित वज्रतारा की मूर्ति थी। आचार्य वज्रसिद्धि बड़े व्यस्त थे। उन्होंने व्यग्रभाव से कहा–'क्या अभी तक धर्मानुज का कोई पता नहीं लगा?''

''नहीं आचार्य, चारों ओर गुप्तचर उसे खोजने गए हैं।''

''परन्तु पूजन तो नियमानुसार वही कर सकता है जिसने मूर्ति बनाई है-अत: उसका अनुसन्धान करो। मुहूर्त में अब देर नहीं है।'' आज्ञा होने पर और भी चर भेज दिए गए।

दिवोदास अति दयनीय अवस्था में भूख-प्यास से व्याकुल, अर्धमृत-सा हो एक शिलाखण्ड पर अचेत पड़ा था। उसी समय चरों ने वहाँ पहुँचकर उसे देखा। उसे चेत में

लाने की बहुत चेष्टा की, परन्तु उसकी मूर्च्छा भंग न हुई। निरुपाय हो चर उसे पीठ पर लादकर संघाराम में ले आए। संघाराम के चिकित्सकों ने उसका उपचार किया। उपचार से तथा थोड़ा दूध पीने से वह कुछ चैतन्य हुआ। परन्तु उसकी संज्ञा नहीं लौटी।

बाहर बहुत कोलाहल हो रहा था। सहस्रों भिक्षु और भावुक भक्त चिल्ला रहे थे। डफ-मृदंग-मीरज बज रहे थे। सारा प्रांगण मनुष्यों से भरा था। महाराज श्री गोविन्द पालदेव आ चुके थे। उन्होंने अधीर होकर कहा–''आचार्य, अब पूजन-अनुष्ठान प्रारम्भ हो।''

आचार्य ने चिन्तित स्वर में कहा–''भिक्षु धर्मानुज को यहाँ लाओ। वह विधिवत् पूजन करे।''

कुछ भिक्षु उसे पकड़कर ले आए। वह गिरता-पड़ता आकर मूर्ति के सम्मुख खड़ा होकर हँसने लगा। इसी समय मूर्ति का आवरण उठाया गया। मूर्ति के मुख पर दिवोदास ने दृष्टि डाली। उसे प्रतीत हुआ जैसे मूर्ति मुस्करा रही है। उसने फिर देखा, मूर्ति ने दो उँगली ऊपर उठा कर कहा-''झूठे।'' उसने स्वयं वह शब्द सुना, स्पष्टतया। उसने मूर्ति के ओठों को हिलते देखा। यह देखते ही दिवोदास मूर्च्छित होकर मूर्ति के चरणों में गिर गया। अनुष्ठान खण्डित हो गया। आचार्य वज्रसिद्धि असंयत होकर उठ खड़े हुए। सहस्र-सहस्र भिक्षु–'नमो अरिहन्ताय नमो बुद्धाय' चिल्ला उठे। आचार्य ने उच्च स्वर से कहा–''इस विक्षिप्त भिक्षु को भीतर ले जाओ। मैं स्वयं अनुष्ठान सम्पूर्ण करूँगा।''

परन्तु इसी समय मेघ गर्जन के समान एक आवाज आई–''ठहरो।''

सहस्रों ने देखा। एक भव्य प्रशान्त मूर्ति धीर स्थिर गति से चली आ रही है। उसके पीछे सुनयना वस्त्र में कुछ लपेटे हुए आयी हैं। उनके पीछे सुखदास और वही वृद्ध ग्वाला है। लोगों ने देखा, उसी सौम्य मूर्ति के साथ महाश्रेष्ठि धनंजय भी हैं।

सौम्य मूर्ति सबके देखते-देखते वेदी पर चढ़ गई। उसने प्रतिमा के सिर पर हाथ रखा। हाथ रखते ही प्रतिमा सजीव हो गई। वह हिलने लगी। प्रतिमा में सजीवता के लक्षण देख सहस्रों कण्ठ 'भगवती वज्रतारा की जय' चिल्ला उठे। प्रतिमा ने हाथ उठाकर सबको शान्त और चुप रहने का संकेत किया।

क्षण-भर ही में सन्नाटा छा गया। मूर्ति ने वीणा की झंकार के समान मोहक स्वर में कहा–''मूढ़ भिक्षुओ, तुम जानते हो कि धर्म क्या है?''

सहस्रों कण्ठों ने विस्मित होकर कहा–''माता, आप हमें धर्म की दीक्षा दीजिए।''

मूर्ति ने कहा–''मनुष्य के प्रति मनुष्यता का व्यवहार करना सबसे बड़ा धर्म है, संसार को संसार समझना धर्म का मार्ग है।''

सहस्रों कण्ठों से निकला–''मातेश्वरी वज्रतारा की जय हो।''

मूर्ति ने फिर वज्रसिद्धि की ओर उँगली से संकेत करके कहा–''यह धर्मढोंगी पुरुष, लाखों मनुष्यों को धर्म से दूर किए जा रहा है। मैं इस पाखण्डी का वध करूँगी।'' मूर्ति ने सहसा खड्ग ऊँचा किया। जनपद स्तब्ध रह गया। भिक्षु गण चिल्ला उठे-

''रक्षा करो, देवि, रक्षा करो।''

वज्रसिद्धि अब तक विमूढ़ बना खड़ा था। अब उसने मूर्ति के रूप में मंजु को पहचानकर कहा–''यह देवी वज्रतारा नहीं है। यह पापिष्ठा धूत पापेश्वर के मन्दिर की अधम देवदासी मंजुघोषा है, इसे बाँध लो।''

मंजु ने कहा–"वही हूँ, और तुमसे पूछती हूँ, कि तुम मनुष्य को मनुष्य की भाँति क्यों नहीं रहने देना चाहते?"

वज्रसिद्धि ने फिर गरज कर कहा–"बाँधो, इस पापिष्ठा को।"

जनता में कोलाहल उठ खड़ा हुआ। सहस्रों भिक्षु रथ पर टूट पड़े।

अब उस भव्य सौम्य पुरुष-मूर्ति ने हाथ उठाकर कहा–"सब कोई जहाँ हो-वहीं शान्त खड़े रहो।"

इस बार फिर सन्नाटा हो गया। उसी भव्य मूर्ति ने उच्च स्वर से पुन: कहा–"मैं ज्ञानश्री मित्र हूँ। तुम्हें शान्त रहने को कहता हूँ।"

आचार्य ज्ञानश्री मित्र का नाम सुनते ही-सहस्र-सहस्र सिर पृथ्वी पर झुक गये। महाराज गोविन्दपाल देव ने उठकर साष्टांग दण्डवत् किया। लोग आश्चर्य विमुग्ध उस महापुरुष को देखने लगे जिसका दर्शन पाना दुर्लभ था तथा जो त्रिकालदर्शी प्रसिद्ध था।

आचार्य ने देवी सुनयना को संकेत किया। उन्होंने वस्त्र में आवेष्टित बालक को मंजु की गोद में दे दिया। मंजु ने खड्ग रखकर बालक को छाती से लगाकर कहा–"यह मेरा पुत्र है, जिसे वे अभागे धर्म-पाखण्डी पाप का फल कहते हैं, जिनके अपने पाप ही अगणित हैं।"

भिक्षुओं में फिर क्षोभ उठ खड़ा हुआ।

आचार्य ज्ञान ने मेघ गर्जन के स्वर में कहा–"भिक्षुओ, शान्त रहो। फिर उन्होंने दिवोदास के मस्तक पर हाथ रखकर कहा–"उठो श्रेष्ठि पुत्र।"

दिवोदास जैसे गहरी नींद से जग गया हो। उसने इधर-उधर आश्चर्य से देखा-फिर पुत्र को गोद में लिए मंजु को सम्मुख मुस्कराती खड़ी देखकर बारम्बार आँख मलकर कहा–"यह मैं क्या देख रहा हूँ-स्वप्न है या सत्य।"

"सब सत्य है, प्राणाधिक, यह तुम्हारा पुत्र है, इसका चन्द्रमुख देखो।"

दिवोदास का लुप्त ज्ञान पीछे लौट रहा था-उसने भुन-भुनाकर कहा–"कैसी मीठी भाषा है, कैसे ठण्डे शब्द हैं, अहा, कैसा सुख मिला, जैसे कलेजे में ठण्डक पड़ गई।"

मंजु ने कहा–"प्यारे, प्राणेश्वर, इधर देखो।"

उसने दिवोदास का हाथ पकड़ लिया। दिवोदास का उस स्पर्श से चैतन्य हो जाग उठा-उसने कहा–"क्या, क्या, तुम हो-सचमुच? तो यह स्वप्न नहीं है?" वह फिर आँखें मलने लगा।

मंजु ने कहा–"स्वामिन्, आर्य पुत्र, यह तुम्हारा पुत्र है, लो।"

"मेरा पुत्र?" उसने दोनों हाथ फैला दिए। पुत्र को लेकर उसने छाती से लगा लिया।

वज्रसिद्धि ने एक बार फिर अपना प्रभाव प्रकट करना चाहा। उसने ललकारकर कहा–"भिक्षुओ, इन धर्म-विद्रोहियों को बाँध लो।"

भिक्षुओं ने एक बार फिर शोर मचाया। वे रथ पर टूट पड़े। दिवोदास ने रोकना चाहा-परन्तु वह धक्का खाकर गिर गया।

सहसा महाराज गोविन्दपाल देव ने खड़े होकर कहा–"जो जहाँ है, वहीं खड़ा रहे।"

महाराज की घोषणा सुनते ही एक बार स्तब्धता छा गई। महाराज ने सेनापति को

आज्ञा दी–"सेनापति, इन उन्मत्त भिक्षुओं को घेर लो।"

क्षण-भर ही में सेना ने समस्त भिक्षु मण्डली को तलवारों की छाया में ले लिया। आतंकित होकर भिक्षु मन्त्रपाठ भूल गए। जनता भयभीत हो भागने की जुगत सोचने लगी।

वज्रसिद्धि ने क्रुद्ध होकर कहा–"महाराज, यह आप अधर्म कर रहे है।"

महाराज ने कहा–"मैं यह जानना चाहता हूँ आचार्य, यह कैसा धर्म-कार्य हो रहा है?"

"देव, आप धर्म व्यवस्था में बाधा मत डालिए।"

"परन्तु मैं पूछता हूँ कि यह कैसी धर्म व्यवस्था है!"

"आप अपने गुरु का अपमान कर रहे हैं।"

"मेरी बात का उत्तर दें आचार्य, क्या आपने काशिराज से मिलकर मेरे विरुद्ध षड्यन्त्र नहीं किया? श्रेष्ठिराज धनंजय के धन को हड़पने के लिए उनके पुत्र को अनिच्छा से भिक्षु बनाकर उसे गुप्त यन्त्रणाएँ नहीं दी हैं? क्या आप लिच्छविराज के गुप्त धन को पाने का षड्यन्त्र नहीं रच रहे हैं?"

"देव, इन अपमानजनक प्रश्नों का मैं उत्तर नहीं दूँगा।"

"तो आचार्य वज्रसिद्धि, इन आरोपों के आधार पर मैं आपको आचार्य पद से च्युत करता हूँ और बन्दी करता हूँ।" उन्होंने सेनापति से ललकार कहा :

"सेनापति इन्द्रसेन, वज्राचार्य और इनके सब साथियों को अपनी रक्षा में ले लो। तथा संघाराम और उसके कोष पर राज्य का पहरा बैठा दो। तुम्हारे काम में जो भी विघ्न डाले उसे बिना विलम्ब खड्ग से चार टुकड़े करके संघाराम के चारों द्वारों पर फेंक दो!" सेनापति ने अपनी नंगी तलवार आचार्य के कन्धे पर रखी।

वज्रसिद्धि ने कहा–"भिक्षुओ, यह राजा पतित हो गया है। इसे अभी मार डालो।"

भिक्षुओं में क्षोभ उत्पन्न हुआ; सैनिक शस्त्र लेकर आगे बढ़े।

अब श्रीज्ञान ने दोनों हाथ ऊँचे करके कहा–"सावधान, भिक्षुओ! यह श्रीज्ञान मित्र तुम्हारे सम्मुख खड़ा है। तुमने तथागत के वचनों का अनादर किया है। बन्धु प्रेम के स्थान पर रक्तपात, अहिंसा के स्थान पर माँसाहार, संयम के स्थान पर व्यभिचार और त्याग के स्थान पर लोभ ग्रहण किया है जिससे तुम्हारे चारों व्रत भंग हो गये हैं। तुमने भिक्षु वेश को कलंकित किया है, और तथागत के पवित्र नाम को कलुषित किया है। मैं तुम्हें आदेश देता हूँ कि अपने आचरणों को सुधारो, या भिक्षुवेश त्याग दो।"

सहस्र-सहस्र भिक्षु श्रीज्ञान के सम्मुख घुटनों के बल बैठ गए। महाराज ने कहा–"भिक्षुओ, तुम्हारे अनाचार की बहुत बातें मैंने सुनी हैं। प्रजा तुम्हारे अत्याचारों से तंग है। तुम्हारे गुरु घण्टाल का भण्डाफोड़ हो गया है। मैं चाहता हूँ, भगवान् श्रीज्ञान के आदेश का पालन करो। अपने-अपने स्थान को लौट जाओ।"

भिक्षुओं ने एक स्वर से महाराज और ज्ञानश्री मित्र का जय-जयकार किया।

महारजा ने कहा–"श्रेष्ठि धनंजय, आओ अपने पुत्र-पौत्र और पुत्र-वधू को आशीर्वाद दो।"

धनंजय दौड़कर पुत्र से लिपट गया। दिवोदास ने पिता के चरणों में गिरकर अभिवादन किया। मंजु ने भी सबको प्रणाम किया और बच्चे को श्वसुर की गोद में दे दिया।

महाराज ने कहा–“श्रेष्ठिराज, यह सौभाग्य तुम्हें भगवान् श्रीज्ञान की कृपा से मिला है। उन्होंने मंजुघोषा और उसके पुत्र की प्राण रक्षा की। और बड़े कौशल से मूर्ति के स्थान पर उसे प्रकट किया।”

सुनयना ने करबद्ध होकर कहा–“तो भगवान्, आप ही मेरे बच्चे के चोर हैं?”

“यह कार्य भी मुझ वीतराग पुरुष को करना पड़ा। जब मंजु को मैंने जंगल में असहाय वृक्ष के नीचे मूर्च्छितावस्था में पड़ा देखा, तो उसे मैं अपने आश्रम में उठा लाया। उपचार से वह स्वस्थ हुई तो बच्चे के लिए उसने बहुत आफत मचाई। मैं जानता था कि तुम राजी से बच्चा मुझे न दोगी। मंजु का जीवित रहना मैं तुम पर प्रकट करना नहीं चाहता था- इसी से चौर्यकार्य मुझे करना पड़ा। अब बुद्ध शरणं।”

“भगवान्, मैं तो ऐसी अन्धी हो गई कि पुत्री को अरक्षित छोड़कर भाग निकली, परन्तु मुझे बालक की रक्षा का विचार था।”

“यह सब भवितव्य था जो अकस्मात् हो गया।”

“किन्तु भगवन्, यहाँ मूर्ति के स्थान पर मंजु कैसे आ गई?”

“यह हमसे पूछिए,” सुखदास ने आगे बढ़कर कहा–“हम लोग जब स्थान आदि की सुव्यवस्था करके वृक्ष के निकट पहुँचे, तो वहाँ कोई न था। इससे हम बहुत व्याकुल हुए। सारा जंगल छान मारा। तब भगवान् के हमें दर्शन हुए। और जब मंजु को हमारी देख-रेख में छोड़कर भगवान् बच्चा चुराने के लिए गये, तो हमने मिलकर यह योजना बना ली। फिर तो मूर्ति को अपने स्थान से हटाकर वहाँ मंजु को बैठा देना आसान था। परन्तु चमत्कार खूब हुआ!”

यह कहकर सुखदास हँसने लगा। सभी लोग हँस दिए।

सुखदास ने वृद्ध ग्वाले की ओर संकेत करके कहा–“इन महात्मा ने प्राणपण से मंजु की सेवा करके प्राण बचाये। हमारी योजना न सफल होती यदि यह मदद न करते।”

ग्वाले ने चुपचाप सबको हाथ जोड़ दिए। आचार्य श्रीज्ञान ने कहा–“यह सब विधि का विधान है लिच्छवि-राजमहिषी?”

राजा ने अकचकाकर कहा–“यह आपने क्या शब्द कहा! लिच्छवि राजमहिषी कौन!”

“महाराज, यह देवी सुनयना लिच्छविराज श्री नृसिंहदेव की पट्टराजमहिषी कीर्तिदेवी हैं, जिन्हें काशिराज ने छल से मारकर उनके राज्य को विध्वंस किया था। मंजुघोषा इन्हीं की पुत्री हैं।”

महाराज ने कहा–“महारानी, इस राज्य में मैं आपका स्वागत करता हूँ। और राजकुमारी, आपका भी तथा कुमार को मैं वैशाली का राजा घोषित करता हूँ, और उनके लिए यह तलवार अर्पित करता हूँ जो शीघ्र काशिराज से उनका बदला लेगी।”

रानी ने कहा–“हम दोनों-माता पुत्री-कृतार्थ हुईं। महाराज, आपकी जय हो। अब इस शुभ अवसर पर यह तुच्छ भेंट मैं दिवोदास को अर्पण करती हूँ।”

उसने अपने कण्ठ से एक तावीज निकालकर दिवोदास के हाथ में देते हुए कहा–“इसमें उस गुप्त रत्नकोष का बीजक है, जिसका धन सात करोड़ स्वर्ण मुद्रा है।”

“पुत्र, मुझ अभागिन विधवा का यह तुच्छ दहेज स्वीकार करो।”

श्रेष्ठि धनंजय ने आगे बढ़कर कहा–"महारानी, आपने मुझे और मेरे पुत्र को धन्य कर दिया।"

आचार्य श्रीज्ञान ने हाथ उठाकर कहा–"आप सबका कल्याण हो। आज से मैं आचार्य शाक्य श्रीभद्र को इस महाविहार का कुलपति नियुक्त करता हूँ।" महाराज ने स्वीकार किया। और सबने आचार्य को प्रणाम किया और अपने गन्तव्य स्थान की ओर चले गए।

वज्रगुरु

आचार्य शाक्य श्रीभद्र महायान के आचार्य थे। वे शून्यवाद के परम पण्डित थे। उसके नाम और पाण्डित्य की बड़ी धूम थी। विक्रमशिला विश्वविद्यालय के पीठाधीश्वर हो जाने पर भी वज्र गुरुओं का गुट विक्रमशिला से टूटा नहीं। यद्यपि आचार्य वज्रसिद्धि अब कुलपति नही रहे थे, पर वे वज्र गुरुओं के शिरोमणि थे। ये वज्र गुरु वैपुल्यवादी थे और उनका संगठन साधारण न था। उनके सामने आचार्य शाक्य श्रीभद्र की चलती नहीं थी। जो हजारों-लाखों तरुण-तरुणियाँ पीत-कफनी पहिन कच्ची उम्र में ही भिक्षु-भिक्षुणी हो जाते थे, उनकी कामवासना तो कायम ही रहती थी। किसी भी ज्ञान और उपदेश से वह दबती न थी। वह तो स्वस्थ शरीर का नैसर्गिक धर्म था। वैपुल्यवादी एकाभिप्रायेण स्त्री-गमन कर सकते थे। वे गृहस्थों की भाँति मानव शरीर की प्राकृतिक आवश्यकता को गृहस्थाश्रम के सीधे-सादे सरल मार्ग द्वारा पूर्ण नही करते थे-वे तो 'एकाभिप्राय' की आड़ लेकर रहस्यपूर्ण शब्दजाल द्वारा सम्भोग क्रिया का 'सम्यक्-सम्बुद्ध' बनने के लिए वज्रगुरु की सहमति से स्त्री-सेवन कर सकते थे। वे किसी नीच जाति की युवती को मुद्रा बनाकर गुरु के निकट जाते और गुरु की आज्ञा से मिथुन योग करते थे। वज्रगुरु की आज्ञा से यह मैथुन सेवन कामवासना की तृप्ति के लिए नहीं होता था; सम्यक्-सम्बुद्ध और सिद्ध बनने के लिए होता था। ये सब नियम गुह्य थे। और उसी से भैरवीचक्र का जन्म हुआ।

बौद्धों के प्राचीन सुत्त बहुत लम्बे-लम्बे होते थे। उन्हें घोखने और याद करने में बहुत समय लगता था इसलिए वैपुल्यवादियों ने छोटी-छोटी धारणियाँ बनाई थीं। उनके पाठ से भी वही प्राप्त होता था जो सूत्रों के पाठ से होता था। पर धारणियों को कण्ठ करने में भी दिक्कत पड़ती थी। इसलिए अब उसके स्थान पर मन्त्रों को रचा गया था। जिनमें अस्त-व्यस्त शब्द ही थे। जैसे 'ओं मुने-मुने महामुने स्वाहा,' अथवा 'ओं, आहुँ।' लोगों का विश्वास था कि इस मन्त्रों के जाप से अभिलषित फल प्रापत होता है। मन्त्र-शक्ति के इस विश्वास के साथ-साथ वे कुछ भोग की क्रियाओं को भी सीखते थे। वे समझते थे कि इन क्रियाओं द्वारा शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास होता है। इस समय बुद्ध को भी अलौकिक या अमानव माना जाता था। ये वज्रगुरु खान-पान, रहन-सहन में आचार-विचार का कोई ध्यान नहीं करते थे। उचित-अनुचित, कर्त्तव्य-अकर्तव्य का भेद सिद्ध पुरुषों में नहीं होता-यही लोग समझते थे। स्त्री मात्र से सम्भोग करना वे अपनी साधना में सहायक मानते थे। साथ ही मद्य-माँस का सवेन भी योग क्रियाओं के लिए आवश्यक था। ऐसा ही यह युग था जिसका केन्द्र विक्रमशिला-नालन्दा और उदन्तपुरी के विहार बने हुए थे। एक ओर इन

विद्याकेन्द्रों में भाँति-भाँति के शास्त्र और विद्याएँ पढ़ाई जाती थीं, जिसकी ख्याति देश-देशान्तरों में थी, तो दूसरी ओर ये धर्मपाखण्ड और अत्याचार चल रहे थे।

इस काल में सद् गृहस्थ ब्राह्मणों और बौद्ध भिक्षुओं का समान आदर सत्कार करते थे। शैवों-शाक्तों और वाममार्गियों के कई अघोरी पन्थ भी थे जिनसे गृहस्थ भयभीत रहते थे। पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान के साथ जिन देवी-देवताओं की उपासना का आरम्भ हुआ, बौद्ध उनकी उपेक्षा नहीं कर सके। उन्होंने उन्हें नये नामों से अपने धर्म में सम्मिलित कर लिया। मंजुश्री तारा, अवलोकितेश्वर आदि नामों से अनेक देवी-देवताओं ने बौद्धधर्म में भी प्रवेश कर लिया था। कुछ तो इस कारण से और कुछ तन्त्रवाद के प्रवेश ने शक्ति के उपासक पौराणिक और वज्रयानी बौद्धों को परस्पर निकट ला दिया था। पौराणिकों ने बुद्ध को दस अवतारों में गिन लिया था। पालदेशी बौद्ध राजा थे-पर ब्राह्मणों को भी मानते थे। सातवीं शताब्दी ही में अनेक ऐसे पौराणिक पण्डितों ने जन्म लिया, जिन्होंने अपनी तर्कशक्ति और विद्वत्ता के प्रभाव से सबको चकाचौंध कर दिया। कुमारिल भट्ट और प्रभाकर के नाम इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शंकर भी एक असाधारण पुरुष थे। इनके कारण बौद्ध भिक्षुओं का प्रताप कम अवश्य पड़ गया था पर बौद्ध संघ को स्थापित हुए हजार साल से भी ऊपर हो चुके थे। उनके मठों में अतोल सम्पदा जमा हो गई थी। और मगध के विहारों में हजारों भिक्षु निश्चिंत होकर आनन्द के साथ जीवन व्यतीत करते थे। वे केवल अब नाम के भिक्षु थे। भिक्षा माँगने भिक्षा पात्र लेकर उन्हें अब लोगों के घर जाना नहीं पड़ता था। इधर आश्रमों और मठों के रहने वाले सन्यासियों में भी स्फूर्ति उदय हुई थी। इससे भारत में उस समय बौद्धों के प्रति उदासीनता बढ़ती जाती थी। परन्तु आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक पाँच सौ वर्षों में वज्रयान ने एक प्रकार से सारी ही भारतीय जनता को कामी, व्यसनी, शराबी और अन्धविश्वासी बना दिया था। राजा लोग तो अब भी किसी सिद्धाचार्य और उनके तांत्रिक शिष्यों की पलटनें साथ रखते थे जिन पर भारी खर्च किया जाता था।

तलवार

ई. स. 1192 में तराइन की रणस्थली में चौहान कुल-कमल दिवाकर पृथ्वीराज का सौभाग्य सूर्य अस्त हुआ। इसके दो वर्ष बाद चन्दोवर की भूमि में कन्नौज के जयचन्द्र को भी मुस्लिम तलवार का पानी पी खेत रहना पड़ा। इसके बाद हिन्दू संस्कृति के एकमात्र गढ़ बनारस पर मुस्लिम तलवार जा धमकी।

इसके तीन बरस बाद ही मुहम्मद गोरी का एक गुलाम सेनानायक मोहम्मद-बिन-वाखूपार केवल पाँच हजार सवार लेकर विहार में जा धमका। जहाँ इस समय बौद्ध विहारों और विद्याकेन्द्रों की भरमार थी, वहाँ तुर्कों ने अपने चिरशत्रु पीत कफनी पहने और सिर मुड़ाए 'बुत-परस्तों' को देखा, जिनका उन्हें कटु अनुभव था। जब तुर्कों ने मध्य एशिया पर आक्रमण किए थे तब वहाँ के भिक्षुओं ने उनसे कठिन लोहा लिया था। वे अपने इन चिरशत्रुओं पर टूट पड़े, जिनके धर्म की जड़ अनाचार से खोखली हो चली थी। उन्होंने गाजर-मूली की भाँति सबको काट डाला। एक भी घुटे सिर वाले को जीवित न छोड़ा। पालवंशी दुर्बल राजा अनायास ही परास्त हो गए। नालन्दा विक्रमशिला और उदन्तपुरी के विहारों को लूटकर और जलाकर उन्होंने खाकस्याह कर दिया। वहाँ के दुर्लभ पुस्तकालय भी उन्होंने जलाकर भस्म के ढेर कर दिए और वहाँ से असंख्य धन-रत्न लेकर वह आगे बढ़े। बंगाल की राजधानी नदिया में मोहम्मद ने केवल बारह सवारों के साथ प्रवेश किया। लोगों ने उन्हें घोड़ों का सौदागर समझा। पर जब उन्होंने राजद्वार पर जाकर मारकाट मचाई तो भगदड़ मच गई। बंगाल का राजा परम माहेश्वर लक्ष्मणसेन उस समय भोजन कर रहा था। वह शोर सुनकर बदहवास हो गया; उससे कुछ भी करते न बन पड़ा। और महल के पिछले द्वार से निकल भागा।

केवल बारह मुस्लिम तलवारों ने बंगाल को विजय कर लिया।

× × ×

शाक्य श्रीभद्र विक्रमशिला विश्वविद्यालय के ध्वस्त होने के बाद भागकर पूर्वी बंगाल के 'जगत्तला' विहार में पहुँचे। जब वहाँ भी तुर्कों की तलवार गई तो वे अपने शिष्यों के साथ भागकर नेपाल चले गए। उनके आने की खबर सुनकर तिब्बत के सामन्त कीर्तिध्वज ने उन्हें अपने यहाँ निमन्त्रित किया। वहाँ वे बहुत वर्षों तक रहे। शाक्य श्रीभद्र की भाँति अनेक बौद्ध भिक्षुओं तथा सिद्धों ने जाकर बाहर के देशों में शरण ली। इस प्रकार भारत से बौद्ध धर्म का लोप हो गया।

धनंजय श्रेष्ठि का परिवार

श्रेष्ठि धनंजय का रंगमहल आज फिर सज रहा था। कमरे के झरोखों से रंगीन प्रकाश छन-छनकर आ रहा था। भाँति-भाँति के फूलों के गुच्छे ताखों पर लटक रहे थे। मंजु उद्यान में लगी एक स्फटिक पीठ पर बैठी थी; सम्मुख पालने में बालक सुख से पड़ा अँगूठा चूस रहा था। दिवोदास पास खड़ा प्यासी चितवनों से बालक को देख रहा था।

मंजु ने कहा–"इस तरह क्या देख रहे हो प्रियतम?"

"देख रहा हूँ कि इन नन्हीं-नन्हीं आँखों में तुम हो या मैं?"

"और इन लाल-लाल ओठों में?"

"तुम।"

"नहीं तुम।"

"नहीं प्रियतम।'

"नहीं प्राणसखी।"

"अच्छा हम तुम दोनों।"

पति-पत्नी खिलखिलाकर हँस पड़े। दिवोदास ने मंजु को अंक में भरकर झकझोर डाला।

❐❐❐